70

संचेतना

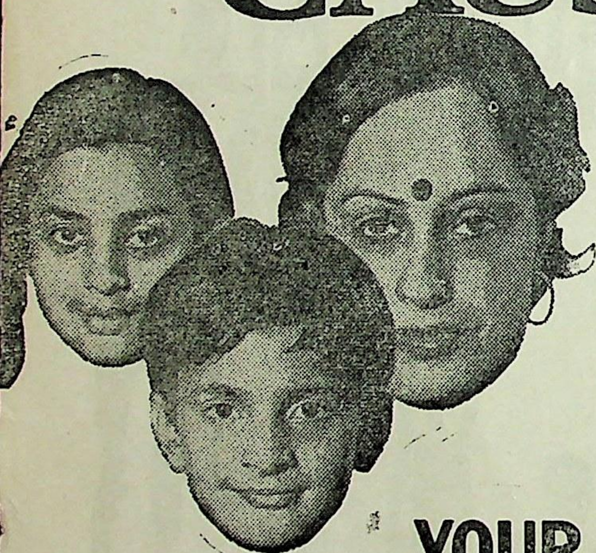
61

साहित्य : समीक्षा त्रैमासिक

संपादक : महीपसिंह



SAVE FOR A GOOD CAUSE



Can you think of a better cau
your own near and dear ones
Your children's education, we
housing, meeting emergencie
eventualities ? But to prepare
extra or unforseen expenditur
have got to start saving now.

And that is where PNB come
with convenient, efficient an
profitable savings schemes to
you save more easily. Our
Multi-Benefit and Old Age D
Scheme, Recurring Deposit S
and Special Fixed Deposit Sc
are just a few of them.

Please contact our nearest
branch for further details.

....YOUR FAMILY

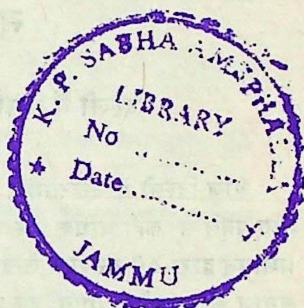
punjab national ban

(A Government of India Undert

... the name you can bank up

With best Compliments

from





असहायों एवं विकलांगों के लिए नयी आशा

दिल्ली में समाज कल्याण के बढ़ते चरण

आज दिल्ली में जरूरतमंद, उपेक्षित, निराश्रित तथा विकलांग व्यक्तियों के लिए पहले से कहीं अधिक संस्थान एवं सेवाएं उपलब्ध हैं। इस समय दिल्ली प्रशासन द्वारा 60 संस्थान केन्द्र तथा सेवाएं चलायी जा रही हैं जिनके अंतर्गत समाज कल्याण से संबंधित हर प्रकार की गतिविधियां शामिल हैं। इन से लगभग 3 लाख व्यक्ति लाभान्वित हो रहे हैं। इन संस्थानों में जरूरतमंद बच्चों, महिलाओं, वृद्ध एवं अशक्तों, भिखारियों, कुष्ठ-रोगियों, विकलांग तथा मानसिक रूप से अविकसित व्यक्तियों को भोजन एवं आवास के अलावा सामाजिक सुरक्षा प्रदान की जाती है। आत्मनिर्भर बनाने के लिए इन्हें प्रशिक्षण भी दिया जाता है।

भिक्षा वृत्ति की रोकथाम के लिए जोरदार अभियान चलाया गया है
भिखारियों को पुनर्वास के लिए 9 गृहों में प्रशिक्षण दिया जा रहा है

चालू वित्तीय वर्ष में समाज कल्याण गतिविधियों पर योजना-व्यय पिछले वर्ष के 1 करोड़ 10 लाख रु० से बढ़ाकर 2 करोड़ 25 लाख रु० अर्थात दुगना कर दिया गया है। अगले वर्ष के लिए राज्य क्षेत्र का परिव्यय 3 करोड़ 38 लाख रु० होगा।

प्रशासन ने पिछले वर्ष अंतर्राष्ट्रीय विकलांग वर्ष में चालू की गई योजनाओं की गति को बनाए रखने के लिए 1982 को भी ''विकलांग वर्ष'' के रूप में मनाने का निश्चय किया है।

इस वर्ष चालू की गयी कुछ योजनाएं इस प्रकार हैं :

- यमुना पार क्षेत्र में मानसिक रूप से अविकसित बच्चों तथा बहरों के लिए अलग-अलग विद्यालयों का समारंभ।
- नेत्रहीन बाल राजकीय विद्यालय का स्तर बढ़ाकर उच्च विद्यालय में परिर्वतन।
- कालेज जाने वाले नेत्रहीन छात्रों के लिए दिल्ली विश्वविद्यालय के समीप एक छात्रावास का समारंभ।
- कुष्ठ रोगियों को 96 रिहायशी इकाइयों का आवंटन।

- शाहदरा के ताहिरपुर में कुष्ठ से प्रभावित 800 व्यक्तियों को काम प्रशिक्षण देने के लिए सुरक्षित कर्मशाला तथा पुनर्वास केन्द्र की स्थापना।
- विकलांगों के लिए आवासीय संस्थान की स्थापना की योजना तैयार।
- समाज सहायता केन्द्र खोलने की योजना।
- शारीरिक रूप से विकलांगों के पुनर्वास के लिए 178 कियोस्कों तथा स्टालों का आबंटन।
- शारीरिक रूप से विकलांग लगभग 300 छात्रों को 30 रु० तथा 40 रु० प्रतिमास की दर से छात्रवृत्ति।
- पूरक पोषक-आहार कार्यक्रम के अंतर्गत लगभग 1 लाख बच्चे तथा 20 हजार गर्भवती/दूध पिलाने वाली माताएं लाभान्वित।
- नैतिक एवं अन्य प्रकार से मुसीबत में पड़ी महिलाओं एवं लड़कियों के लिए एक अल्प-अवधि गृह की स्थापना।

दिल्ली प्रशासन 1982 के दौरान भी विकलांग तथा जरूरतमंदों की सहायता के लिए कृत संकल्प है



सूचना एवं प्रचार निदेशालय, दिल्ली प्रशासन द्वारा प्रसारित
सूप्रनि/योजना/3/82

संचेतना

साहित्य : समीक्षा का
त्रैमासिक प्रकाशन

वर्ष १६, अंक ४, दिसम्बर १९८२ (प्रकाशित मार्च, १९८२) पूर्णांक ६१

संपादक
महीप सिंह

प्रबन्ध संपादक
जयदीप सिंह

•

एक प्रति : तीन रुपये
वार्षिक : पंद्रह रुपये
(विशेषांक सहित)
तीन वर्ष : चालीस रुपये
आजीवन (संस्थाओं के लिए) :
ढाई सौ रुपये
आजीवन (व्यक्तिगत) : सौ रुपये
विद्यार्थियों / अध्येताओं के लिए
वार्षिक : दस रुपये
तीन वर्ष : पच्चीस रुपये
विदेशों के लिए
(समुद्री डाक से)
वार्षिक : पचास रुपये
(हवाई डाक से)
वार्षिक : सौ रुपये
आजीवन : पांच सौ रुपये

•

एच-१०८, शिवाजी पार्क,
नयी दिल्ली-११००२६
फोन : ५६१२८७

इस अंक में

पंडित गोविन्द वल्लभ पंत पुरस्कार योजना

पुलिस प्रशासन और प्रशिक्षण तथा न्यायिक विज्ञान की मौलिक और अनूदित हिन्दी पुस्तकों के लिए पुरस्कार

भारत सरकार ने पुलिस से संबंधित विषयों पर हिन्दी की मौलिक पुस्तकों अथवा अनूदित पुस्तकों के लिए पंडित गोविन्द वल्लभ पंत पुरस्कार शुरू करने का निश्चय किया है। इस योजना का मुख्य उद्देश्य इन विषयों पर हिन्दी के प्रकाशनों को प्रोत्साहन देना है।

पुरस्कार : उपर्युक्त विषयों पर हिन्दी में लिखी गई मूल पुस्तकों के लेखकों को प्रतिवर्ष निम्नलिखित पुरस्कार दिए जाएंगे :—

1. **पहला पुरस्कार**—10,000/-रु० (दुर्लभ पुस्तकों के अनुवाद उपरोक्त विषयों पर ख्याति प्राप्त लेखकों से अनुरोध करके मूल हिन्दी पुस्तकें लिखाने पर।)

2. **दूसरा पुरस्कार**—7,000/-रु० (उपरोक्त विषयों पर उत्कृष्ट हिन्दी पुस्तकों के लिए प्रत्येक पंचांग वर्ष में 5 पुरस्कार)

3. **तीसरा पुरस्कार**—3,000/-रु० (इन विषयों पर अन्य भाषाओं में मूल रूप से लिखी प्रामाणिक पुस्तकों के हिन्दी अनुवादों के लिए प्रतिवर्ष दो पुरस्कार।)

पात्रता : भारत के सभी नागरिक इस योजना में भाग ले सकते हैं। चूंकि यह वर्ष पुरस्कारों का पहला वर्ष है, अतः 31 मार्च 1982 तक प्रकाशित सभी मूल पुस्तकों, पांडुलिपियों और प्रामाणिक पुस्तकों के हिन्दी अनुवादों पर पुरस्कारों के लिए विचार किया जाएगा। इस योजना के लिए भेजी जाने वाली पुस्तकें पहले ही पुरस्कृत नहीं होनी चाहिए।

पुस्तकों का चयन : पुरस्कार पाने योग्य पुस्तकों का चयन एक मूल्यांकन समिति द्वारा किया जाएगा। पुरस्कारों के संबंध में इस समिति का निर्णय अंतिम होगा। यदि मूल्यांकन समिति द्वारा किसी भी पुस्तक को पुरस्कार योग्य नहीं पाया जाता तो सभी पुरस्कार अथवा कोई एक पुरस्कार नहीं दिया जाएगा। प्रविष्टियां प्राप्त करने की अंतिम तारीख 31 अक्तूबर, 1982 है।

पुस्तक का नाम, विषय, लेखक और प्रकाशक का पूरा नाम और पता, प्रकाशन तिथि, कापीराइट रखने वाले का नाम व पता यदि कोई हो, पुस्तक की कीमत, पृष्ठ संख्या आदि के पूर्ण विवरण के साथ सामग्री की चार प्रतियां इस पते पर भेजी जाय :—

निदेशक,
पुलिस अनुसंधान एवं विकास ब्यूरो,
बी-1688, कस्तूरबा गांधी मार्ग बैरेक्स,
नई दिल्ली—110001

डी ए वी पी 82.15

अपनी ओर से

भाषा और बौद्धिक संकीर्णता के घेरे

भाषा के प्रश्न को लेकर अपने देश में विवाद उठ खड़ा होना बड़ी सहज बात है। आज भी इस देश में सामान्यजन की भावना को उभाड़ने में धर्म का नाम लेना सबसे सहज उपाय है, उसके बाद भाषा का नारा सबसे प्रभावशाली भावनात्मक पहलू है। उस समय स्थिति और भी जटिल हो जाती है, जब भाषा को धर्म विशेष के साथ जोड़कर देखा जाता है।

उर्दू को लेकर पिछले कुछ समय से जिस प्रकार के विवाद को हवा दी जा रही है, उससे लगता है कि हमारी भाषाई मानसिकता आज भी लगभग वही है जो आजादी से पहले थी। आज भी हम भाषा के साथ धर्म, संस्कृति, परिवेश, परंपरा तथा अन्य कितने ही पक्षों को अनिवार्य रूप से सम्बद्ध करके देखने के आदी हैं, जबकि सम्पूर्ण संसार में भाषाएं अपनी परम्परागत भौगोलिक सीमाओं का अतिक्रमण करती हुई व्यापक परिवेश में मानवीय संवेदना की वाहक बन रही हैं। आज अंग्रेजी, फ्रेंच, स्पेनिश किसी एक देश, धर्म या सांस्कृतिक परिवेश की भाषाएं नहीं हैं। स्वयं भारतीय उपमहाद्वीप की अनेक भाषाएं-उर्दू, बंगला, पंजाबी, सिंधी, गोरखाली आदि एक से अधिक देशों में, अनेक विभिन्नताओं के साथ अभिव्यक्ति का माध्यम बनी हुई हैं। अनेक समुन्नत देशों में भाषाओं के सम्बन्ध में व्यापक उदार नीति अपनायी जा रही है। इंगलैंड और कैनाडा आदि देशों में भारत की कितनी ही भाषाओं को उन भारतीय मूल के बच्चों को पढ़ाने की व्यवस्था की गयी है, जो इन्हें पढ़ना चाहते हैं। स्वयं हिंदी अब एक देश या भूभाग की भाषा नहीं है। इसे संसार के उन अनेक देशों में सरकारी और गैर सरकारी स्तर पर स्वीकार किया जा रहा है जहां भारत मूल के निवासी बसे हुए हैं और उन्हीं देशों से सम्बद्ध होकर वे अपनी राष्ट्रीय अस्मिता का स्वरूप निर्मित कर रहे हैं।

दूसरी ओर हम हैं जो अपनी भाषाओं से सबसे कम प्रेम करते हैं, परन्तु भाषा का प्रश्न आते ही मध्ययुगीन शौर्योदार्य से भर उठते हैं।

उर्दू के प्रश्न को लेकर भी कुछ 'हिन्दी उत्साही' इसी प्रकार की मानसिकता का परिचय दे रहे हैं।

किसी भाषा को किसी ऐसे प्रदेश में जहां वह बहुसंख्यक वर्ग की भाषा नहीं है, शिक्षा और सरकारी कामकाज में क्या स्थान मिलना चाहिए, यह प्रश्न भाषा और भाषाविदों की सीमा से बाहर निकलकर घिनौनी और मौकापरस्त राज-

नीति के अखाड़े में दाखिल हो चुका है। ऐसी स्थिति में भाषा और साहित्य के क्षेत्रों में जीने वाले प्राध्यापकों, लेखकों, पत्रकारों तथा अन्य बुद्धिजीवियों का दायित्व और गंभीर हो जाता है। परन्तु यह खेद की बात ही कही जाएगी कि उत्तर प्रदेश और बिहार में उर्दू को सरकारी स्तर पर मान्यता दिये जाने के प्रश्न पर अनेक हिन्दी संस्थाओं, पत्रिकाओं, हिन्दी प्रेमियों और उत्साहियों ने जो रुख अपनाया है वह गहरी मानसिक संकीर्णता से भरा हुआ है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के मुख्य पत्र 'राष्ट्रभाषा सन्देश' (१५ मार्च १९८२) के अंक में हिन्दी के वरिष्ट साहित्यकार श्री रमाप्रसाद घिल्डियाल 'पहाड़ी' का एक लेख प्रकाशित हुआ है, "उर्दू भाषा की प्रकृति एवं पृष्ठभूमि : एक अध्ययन।" यह तथा ऐसे ही अन्य अनेक लेख और वक्तव्य इस मानसिकता को व्यक्त करते हैं। उर्दू-विरोधी अनेक तर्कों में पहाड़ीजी का एक तर्क है कि पाकिस्तान का निर्माण उर्दू की महत्वपूर्ण देन थी और दूसरा तर्क है कि उर्दू भाषा और साहित्य की मानसिक भूमि ईरान की रही और उस समाज की मान्यताओं को उसने कभी छोड़ना नहीं चाहा।

क्या किसी भाषा के नकार के लिए ऐसे तर्कों का सहारा लिया जा सकता है? उर्दू के कारण पाकिस्तान का निर्माण हुआ, यह कहना नितान्त बौद्धिक दिवालियेपन का द्योतक है। क्या किसी भाषा के कारण देश विभाजित होता है? और यदि उर्दू ही भारत-विभाजन का कारण होती, तो पूर्वी बंगाल भारत से क्यों अलग होता जिसने उर्दू को कभी स्वीकार नहीं किया। यदि उर्दू की कुछ कविताओं को मुस्लिम साम्प्रदायिकता के पोषक के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है तो हिन्दी की असंख्य कविताओं को हिन्दू सम्प्रदायवाद (पाकिस्तान के निर्माण में जिसकी भूमिका कम महत्वपूर्ण नहीं है) के पोषक के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। क्या मात्र इस बात से उर्दू और हिन्दी साम्प्रदायिक भाषाएं बन जाती हैं? क्या उर्दू की भूमिका पर विचार करते समय रामप्रसाद बिस्मिल की नज्म-'सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है' और ऐसी ही असंख्य नज्मों-ग़ज़लों को भुला दिया जाना चाहिए? क्या हिन्दी की राष्ट्रीयता की बात को पं० प्रताप नारायण मिश्र की उक्ति :

सब मिल बोलहु एक ज़बान
हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान

के प्रकाश में आज सिद्ध किया जा सकता है?

उर्दू साहित्य की मानसिक भूमिका का ईरान के साथ जुड़ा होना क्या उसे इस देश में जीने से 'डिसक्वालीफाई' कर देता है? इस तर्क के प्रकाश में क्या मॉरीशस, सूरीनाम, त्रिनीनाद, गुआना आदि अनेक देशों में से हिन्दी का निष्कासन कर दिया जाना चाहिए क्योंकि हिन्दी साहित्य की मानसिक भूमि भारत के साथ जुड़ी हुई है?

ये कौन से तर्क हैं जिनको आधार बनाकर कुछ हिन्दी संस्थाएं और हिन्दी साहित्यकार उर्दू का विरोध करने पर तुले हुए हैं ? कभी उर्दू को हिन्दी की एक शैली मात्र घोषित करना और कभी उर्दू को 'देश घातक, विदेशी मानसिकता की भाषा बताना किस दोमुंहे व्यक्तित्व को उजागर करता है ?

उर्दू ही नहीं, भारत की सभी भाषाओं के सम्बन्ध में हमारी नीति स्पष्ट होनी चाहिए। उर्दू सहित भारत की सभी भाषाएं अपनी लिपि, शब्दकोष और मानसिकता सहित हमारे वैविध्य को व्यंजित करती हैं। ये सभी भाषाएं भारत की राष्ट्रीय भाषाएं हैं। हिन्दी का सौभाग्य है कि उसे इतने बड़े देश की अनेक भाषाओं के मध्य सम्पर्क भाषा बनने का गौरव प्राप्त हुआ है। हिन्दी की भूमिका परिवार की उस बड़ी बहन की भूमिका है जिसके साथ अन्य अनेक बहनें अपने स्वभावगत वैविध्य को लेकर साथ-साथ फल-फूल रही हैं। हिन्दी के द्वारा किसी भी भारतीय भाषा या लिपि का विरोध उसकी ज्येष्ठता के पद को संशय में डाल देता है।

हिन्दी प्रेमी और हिन्दी संस्थाएं यदि इस सत्य को ग्रहण नहीं करेंगे तो इतिहास में हिन्दी-सेवा की उनकी भूमिका नितान्त संदिग्ध हो जाएगी।

प्रतिक्रियाएं

दलित साहित्य विशेषांक

यह विशेषांक न केवल संग्रहणीय है बल्कि अनेक दृष्टियों से विशिष्ट है। अब तक हिन्दी में दलित साहित्य पर इतनी महत्वपूर्ण एवं सुनियोजित सामग्री प्रकाशित नहीं हुई। इससे मराठी की उभरती नई चेतना ने एक पथ चलाया है जो संभव है भविष्य में उसी प्रकार से सम्पूर्ण भारतीय साहित्य को प्रभावित करे जिस प्रकार से कभी भक्ति आन्दोलन ने प्रभावित किया था। वस्तुतः आज आवश्यकता इस बात की है कि इस विषय पर एक अखिल भारतीय गोष्ठी की आयोजना की जाए। आप इस ओर भी ध्यान देंगे। इस सर्वांगीण सुन्दर विशेषांक के लिए पुनः बार-बार बधाइयां।

सिद्धेश्वर प्रसाद (नई दिल्ली)

आप तो एक के बाद एक मानक काम करते जा रहे हैं। मराठी दलित साहित्य विशेषांक बहुत समृद्ध और विशिष्ट है। आपको और भाई बांदिवडेकर को बधाई।

प्रभाकर श्रोत्रिय (भोपाल)

इस अंक में सामग्री के चयन में आपने पूरे विवेक का परिचय दिया है। शरच्चन्द्र मुक्तिबोध, गो० म० कुलकर्णी, खाण्डेकर और राव साहब कसबे के लेख इस अंक की उपलब्धि हैं। मुक्तिबोध ने सूक्ष्म विश्लेषण से दलित साहित्य को सही संदर्भ में देखा है। अपनी सीमाओं और कहीं-कहीं असहमतियों के बावजूद संचेतना का यह अंक स्वागत योग्य है।

मूलचन्द गौतम (चंदौसी)

संचेतना का दलित साहित्य विशेषांक मिला, बेहद बढ़िया निकला है। आपने दलित साहित्य को महाराष्ट्रीय परिधि से बाहर लाकर राष्ट्रीय व्यापकता दी है। अपर्याप्त साधनों के बावजूद आपने पत्रकारिता के साधन सम्पन्न व्यवसायियों को पीछे खड़ा कर दिया है।

डा० शौरिराजन (मद्रास)

दलित साहित्य विशेषांक मिला। यह प्रयास सराहनीय है। परिचर्या के लिए प्रस्तुत प्रश्न और उसके उत्तर भी पढ़े। विचारोत्तेजक हैं।' "एक गांव एक पनघट" योजना निश्चय ही भारत भाग्य विधात्री बन सकती है। संचेतना ने यह विशेषांक प्रकाशित करके हिन्दी साहित्य को एक अनदेखा आयाम प्रदान किया है।

डॉ० रजनीकान्त लहरी (उन्नाव)

दलित साहित्य पर संचेतना का विशेषांक बेहद अनूठी चीज है। जो सामग्रियां आपने बटोरी हैं, वे सब की सब तलवार की पतली धार हैं।

शंकर दयाल सिंह (पटना-१)

संचेतना का 'दलित साहित्य विशेषांक' निकालकर आपने पाठकों को संतुलित, महत्वपूर्ण पठनीय सामग्री दी है। निश्चय ही यह संग्रहणीय अंक बन गया है।

राजेन्द्र रंजन (गोरखपुर)

संचेतना का दलित साहित्य विशेषांक मिला। बहुत उपयोगी सामग्री सुरुचिपूर्ण ढंग से प्रस्तुत की है। आपको बधाई!

डॉ० गोपाल राय (पटना)

आप द्वारा सम्पादित व प्रेषित सर्वोत्तम सर्वोच्च कोटि की साहित्य समीक्षा त्रैमासिक का मराठी दलित साहित्य विशेषांक प्राप्त हुआ। कोटिशः धन्यवाद। उक्त अंक न केवल हिन्दी या मराठी का ही उत्कृष्ट साहित्य है अपितु विश्व में दुर्लभ संग्रह है!

महावीर कुमार (जयपुर)

आपके द्वारा प्रेषित संचेतना का नया अंक 'दलित साहित्य विशेषांक' प्राप्त हुआ। दलित साहित्य के विषय में जो बृहद् सामग्री जुटाई गई है वह वास्तव में हिन्दी साहित्य के पाठकों के लिए अभिनव और अछूती व अनूठी है। विशेषांक को देखकर और उसके कुछ अंशों का अध्ययन कर सहसा ही एक दोहा लिखा गया है जिसे मैं संचेतना के पाठकों के लिए प्रेषित कर रहा हूं—

"दानव परवत से भिड़े नरक पुरी में शोर।
जड़ पुतलों में आ गयी, संचेतन की भोर॥

भगवानदास 'ऐजाज़' (नयी दिल्ली)

सोलह वर्ष की संचेतना

'संचेतना' सोलहवें में प्रवेश कर रही है—बधाई। लड़की जब इस नाजुक उमर में हो तो रोमांटिक होने लगती है—लेकिन संचेतना 'खतरनाक' हो रही है। लगता है, यह साल तमाम 'ख़तरनाक' संभावनाओं को तरजीह देने के लिए आ रहा है। मेरी ओर से पत्रिका की बधाई। पर थोड़ी इत्तिला भी कर दूं कि इसी तरह 'संचेतना' चलने लगी तो काफी ल़ोग इसका पीछा करने लगेंगे। मैं एक शुभाकांक्षी की हैसियत से कामना करूंगा का कि एक पूरा 'हजूम' इसके पीछे हो। (माफ करियेगा, बरातियों की तरह नहीं)

प्रभु जोशी (इंदौर)

गधे की भी मर्यादा है

अंक 59 में महीश रंजन की 'दुर्बोधकथा' काफी सारगर्भित और सुबोध रही। कमाल किया है लेखक ने! मेरा खयाल है कि इधर गर्दभगण की (जी हां, गधों की) कमी नहीं है। उन्हें भी यही खुशफहमी है कि 'वैष्णवी' उन्हें पाकर धन्य हुई है। (वैष्णवी किसी एक पत्रिका का नाम न समझें)।

कुछ भी कहें, आखिर गधे की भी अपनी मर्यादा है। 'दुर्बोध कथा' में इंगित गर्दभ सीधे सादे गधे का अपमान ही तो है। बेचारे गधे को क्या लेना देना वैसी संपादकी से? फिर गधा उतना सधा भी नहीं होता। वह तो वंधा होता है—कभी रस्सी से (दूसरी तरफ खूंटे से!) कभी अपनी लाचारी से, कभी मौन-स्तब्ध दार्शनिकता से, तो कभी ओवर-लोडिंग से। उस शरीफ ने स्वप्न में भी न विचारा होगा कि गधा संपादक हो सकता है, कि छपास की मारी कई बेचारियां गधे की प्रेमिकाएं हो सकती हैं, वग़ैरा-वग़ैरा।

कथा नायक वैशाखदत्त कभी आदमी है, कभी गधा (और कभी संपादक)। परंतु गधा तो हर दशा में गधा है। उसपर हम सबको नई दृष्टि से विचार करना चाहिए। (वैशाखदत्तों पर भी। ये दुलत्ती के उतने नहीं, जितने कि रहम के पात्र हैं।)

सैन्नी अशेष (सांगल, जि० किन्नौर)

और और वृत्त

चक्राचक्र की कलम से

आइए, अपने देश के वर्तमान चरित्र के कुछ केन्द्रीय नुक्ते तलाशने की कोशिश करें। वैसे इतने बड़े और विविधता से भरे देश का चरित्र खोजना और उसके कुछ केन्द्रीय नुक्तों को छांटकर अलग करना आसान नहीं है। पर चक्राचक्र भी क्या करे? उसे तो तपती रेत में से चांदी के कण चुनने की आदत है।

मध्ययुग में आए एक विदेशी पर्यटक ने कुछ वर्ष तक इस देश में घूमने और यहां के शासकों, विद्वानों और सर्वसाधारण जनता से मिलने के बाद एक निष्कर्ष निकाला था कि इस देश के लोग बहुत दंभी हैं, अपने सामने ये किसी को कुछ समझते ही नहीं। निश्चित ही उस पर्यटक की नज़र बड़ी तीखी रही होगी और कितने ही नुक्तों से गुज़रती और उन्हें समेटती हुई इस नुक्ते पर आकर टिक गयी होगी। उस पर्यटक ने जो अन्य बातें कही थीं उससे भी कुछ नुक्ते उभरते हैं, जिनमें एक नुक्ता है पाखंड। पाखंड और दंभ के सुमेल से कैसा अद्भुत चरित्र उभरता है? ये दोनों ही गुण गिद्ध के उन दो पंखों के समान हैं जिनकी सहायता से वह पक्षी उड़ता है और अपनी तेज़ आंखों से दूरदराज़ कोनों में छिपे-पड़े मांस को खोजता है। मांस के टुकड़े पर बैठा हुआ गिद्ध जैसे किसी अन्य पशु-पक्षी को पास नहीं फटकने देता, हमारे देश का सुविधाभोगी व्यक्ति भी अपने पद, अपनी कुर्सी, अपनी सुविधा को भरसक दबोचे रहता है। और जब, किसी भी कारण, यह मांस का टुकड़ा उसके हाथ से छूट जाता है तो वह बड़े दंभ से बोलता है—"मैंने इस टुकड़े की कब परवाह की······मैं तो अपने पंख फटकारता हुआ आगे-आगे चल रहा था, मांस का यह टुकड़ा हाथ जोड़े मेरे पीछे-पीछे चल रहा था, यह कहता हुआ कि हे गिद्ध देवता···मुझे अपना भोज्य बनाओ···तुम्हारे उदरस्थ हुए बिना मेरी गति नहीं।"

मध्ययुग में इस पर्यटक ने अपनी बात उन पाखंडियों के संदर्भ में कही थी जो अपनी विद्वता का दम भरते थे। आज के युग में यह बात देश के उन राजनीतिक खिलाड़ियों के सम्बन्ध में तो हर व्यक्ति कह सकता है जो देश-भक्ति और जन-सेवा की सुमरनी हाथ में लिए घूमते हैं। परन्तु इस पर्यवेक्षण की सही तस्वीर किसी विद्वान/लेखक के संदर्भ में ही उभरती है। कारण बहुत स्पष्ट है। राजनेता पाखंडी होता है, बुद्धिविलासी में पाखंड के साथ ही दंभ भी होता है।

अपने एक लेखक की ही बात ले लीजिए। अंग्रेजी के लिक (Lick) और किक (Kick) दोनों ही शब्द उसके व्यक्तित्व के दो दायें-बायें पहलू हैं। चीज़ पाने के

लिए वह व्यक्ति किसी संस्थान की मालकिन, किसी फ़िल्म के निर्माता-निर्देशक, सत्ता में आए हर राजनेता के चरण 'लिक' करता है, फिर अपने सही चरित्र के अनुसार 'किक' का मुखौटा चढ़ाता है और अपने दंभ को फुलाता हुआ हवा में हाथ-पैर मारता हुआ 'किक' की आत्मतुष्टि प्राप्त करता है। इन आत्मतुष्टि के दिनों में वह 'आम आदमी' की वकालत करता है, विद्रोह के तेवर बनाता है, सत्ता-प्रतिष्ठानों के खिलाफ़ जेहाद छेड़ने जैसी बातें करता है और फिर अपना समूचापन लेकर तुच्छ सी सुविधा के प्याले में, चाहे वह किसी पत्रिका की संपादकी हो या दूरदर्शन जैसे सरकारी प्रतिष्ठान में महानिदेशक के पद पर 'अतिरिक्त' रूप से चिपकना हो, अपनी पूरी नाक डुबो लेता है।

एक निर्धन देश में एक बिचारे गरीब लेखक की नियति और हो भी क्या सकती है?

इसके बाद वह दंभ की हवा से अपने पिचके व्यक्तित्व के गुबारे को फुलाता है—"मैंने इस देश के 'दूरदर्शन' को 'निकट दर्शन' (अथवा आत्म दर्शन) बनाने के लिए क्या-क्या नहीं किया? मैं एक फिल्म स्क्रिप्ट लिखने के लिए बम्बई में साढ़े चार लाख (कुछ देर सोचकर) नहीं···नहीं, पांच लाख रुपये लेता था। (और कितने ही निर्माताओं की ट्रेने वर्न करता था) मैं सदा से ही 'आम आदमी' का पक्षधर और दादा मार्क्स का चहेता पोता रहा हूं। इस 'आम आदमी' के सर्वांग हित के लिए ही मैं पांच लाख में से तीन लाख 'मेज़ के नीचे से' और दो लाख रुपये मेज़ के ऊपर से कितने ही नामों में बांटकर लेता था (पूंजीवादी व्यवस्था का आयकर विभाग इस सर्वहारा वर्ग के प्रतिनिधि लेखक का जो बिगाड़ सकता हो बिगाड़ ले) यह सब कुछ छोड़कर मैंने यह 'अतिरिक्त' (आय का) पद स्वीकार किया है (जिससे सिर्फ कुछ लाख रुपये मैं 'मेज़ के नीचे से' कमा सकूं)। मेरे श्रम, मेरे त्याग और देश हित में मेरी महान साधना की ओर ध्यान दीजिए।

उनकी ओर ध्यान दिया गया। दूरदर्शन में कार्यक्रमों की सूचना देने वाले सामान्य उद्घोषक की भी भूमिका छोड़ सकने का मोह संवरण न कर सकने वाले इस 'अतिरिक्त' व्यक्ति को उसके पद से मुक्त कर दिया गया। (इससे पहले भी उसे इसी संगठन से एक बार कार्य-मुक्त किया गया था)

यहीं उस विदेशी पर्यटक की बात पुनः चरितार्थ होती है। पदमुक्त होते ही फटे बांस से दंभ की बांसुरी निकली···'जगहों से मैं निकाला नहीं जाता, मैं खुद निकल जाता हूं। जब तक मेरे चरित्र के मूलभूत तत्त्व—लिक और किक—मेरे साथ हैं, मैं कितनी ही जगहों में घुसूंगा और निकलूंगा। मैं 'फोल्डेड हैंड्स' से चीज़ों को प्राप्त करूंगा और निकाले जाने पर कहूंगा—देने वाले ने 'विद फोल्डेड हैंड्स' ये चीज़ें मुझे दी थीं···

जान जाए तो जाए,
मेरा दंम कभी न जाए।

× × ×

चक्राचक्र का विचार है कि उस विदेशी पर्यटक की मुलाकात इस देश के उन लोगों से नहीं हुई होगी जिन्हें आज की बहुप्रचलित भाषा में 'चमचा' कहा जाता है। उस ज़माने में इन्हें मुसाहिब कहा जाता था। ये लोग अपने आक़ा के 'जी हजूर' होते हैं। आक़ा कहता है—'बैंगन जैसा कोई फल नहीं।'' मुसाहिब कहता है—''हजूर इसीलिए इसके सिर पर ताज रखा होता है। यह तो फलों का सिरताज है।'' आक़ा कहता है—''बैंगन भी क्या कोई सब्जी है। न रूप, न रंग, न स्वाद।'' मुसाहिब कहता है—'हजूर, आप ठीक कहते हैं। इसीलिए तो इसका नाम 'बेगुन' है।''

थाली के ऐसे बैंगन मुसाहिब इस बीच हमारी राजनीति में बड़ी तेजी से पनपे हैं। परन्तु साहित्यिक क्षेत्रों में भी इन्हें ढूंढ़ निकालना कठिन नहीं। मुसाहिब चरित्र का सबसे बड़ा गुण यह है कि वह स्वयं किसी का मुसाहिब होता है और मुसाहिबों की जमात पालना अपनी सबसे बड़ी ज़रूरत समझता है।

चक्राचक्र ने ऊपर एक ऐसे मुसाहिब चरित्र वाले लेखक की चर्चा की है। परन्तु उसके पालतू चूज़े अपनी वफादारी में उससे दो कदम आगे हैं। दिल्ली का एक 'प्रदीप्त' चूज़ा अपने आक़ा के इशारे पर ठांव-कुठांव अपनी चोंच मारता है और लगभग वही रोल अदा करता है जो किसी फिलम में किसी हीरो के 'डबल' का होता है। ऐसे चरित्र का अपना कोई व्यक्तित्व नहीं होता, वह किसी अन्य व्यक्ति का प्रतिभास मात्र होता है।

फिल्मों में ऐसे प्रतिभासित व्यक्तित्व अपनी रोज़ी-रोटी के लिए पिटते रहते हैं, राजनीति में ऐसे व्यक्ति सत्ता में थोड़ी सी भागीदारी के लिए फटे जूतों की बौछार सहते रहते हैं और साहित्य में ऐसे चेहरेहीन व्यक्ति अपनी छपास-क्षुधा शांत करने के लिए हर छोटे-बड़े संपादक की चौखट पर नाक रगड़ते रहते हैं।

दलित साहित्य : मराठी जैसा हिन्दी में क्यों नहीं ?

डॉ० प्रभाकर माचवे

'संचेतना' के 'मराठी दलित साहित्य' विशेषांक के सौजन्य संपादक हमारे मित्र डॉ० चन्द्रकान्त बांदिवडेकर ने विशेष रूप से यह प्रश्न मुझसे पूछा है। पिछले चालीस वर्षों से इस तरह के प्रश्नों पर मैं विचार करता आ रहा हूं। पूरा उत्तर तो मेरे पास भी नहीं है पर यह सही है कि इस प्रश्न के उत्तर कुछ समाजशास्त्रीय, ऐतिहासिक और समालोचनात्मक दृष्टि की अपेक्षा रखते हैं। मैं अपनी अल्प-मति से उत्तर देने का प्रयत्न कर रहा हूं।

पहली बात तो यह है कि महाराष्ट्र में समाज-सुधार के आन्दोलन का इतिहास, हिन्दी भाषी प्रदेशों के इतिहास से भिन्न है। संतों के साहित्य में ही महाराष्ट्र में हरिजन और अ-वर्ण सन्त अनेक मिलते हैं। हिन्दी में कबीर, रैदास आदि कुछ नाम हैं, पर सगुण भक्ति का 'पगड़ा' (वर्चस्व) अधिक रहा है। मराठी में पन्द्रह नाम तो मैं स्मृति से ही दे सकता हूं—ज्ञानेश्वर सोपान निवृत्ति संन्यासी पुत्र (अतः जाति बहिष्कृत), तुकाराम शूद्र, नामदेव शिंपी, चोखा मेला, बंका महार, सांवला माली, गोरा कुम्हार, विढोबा खेचर, (जाति पता नहीं), कान्हो पात्रा (पतुरिया), जनाबाई दासी, नाहरी सुनार, शेख मुहंमद मुसलमान, सारे महानुभावसंत—अब्राह्मण थे। कई उनमें अ-द्विज और असवर्ण थे।

उन्नीसवीं सदी के नवजागरण (मराठी में 'प्रबोधन' अंग्रेजी में 'रेनेसां') में जात-पांत विरोधी समाज-सुधारक नेताओं में एक ओर जहां केशवसुत, प्रार्थना समाज वाले के० टी० तेलंग और बाद में माटे-सावरकर-सेनापति बापट आदि ब्राह्मण थे, वहीं ज्योतिबा फुले और डा० भीमराव आंबेडकर जैसे नेता स्वयम् पिछड़ी और तथाकथित 'नीची' जातियों में से, 'अस्पृश्यों' में से आगे आये। ऐसे नेता हिन्दी प्रदेशों में बहुत कम मिलते हैं। इसका एक कारण यह है कि अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव कलकत्ता, बम्बई, मद्रास महानगरों में पहले पड़ा। यहां विश्वविद्यालय १८५७ में ही स्थापित हो गए। इसी से जस्टिस पार्टी मद्रास में (जो बाद में डी० एम० के०—द्रविड़ मुनेत्र कषगम बनी) रामस्वामी नायकर जैसे नेताओं के नेतृत्व में उभरी, कलकत्ता में ब्राह्म समाज मुखर हुआ, बल्कि वामपंथी विचारधारा ने धर्मनिरपेक्षता को प्रधानता दी (बंगाल में मुस्लिम मार्क्सवादी, रायवादी अधिक थे, कांग्रेसी कम); बम्बई में तो 'सत्यशोधक' समाज का बीजारोपण हुआ, ब्राह्मण-एकाधिकारत्व का विरोध अनेक रूपों में प्रकट हुआ, राजनीति में और साहित्य में भी !

जहां अ-ब्राह्मण वर्ग में महाराष्ट्र में शिक्षा का स्तर बढ़ रहा था, यंत्रों का और औद्योगीकरण का प्रभाव भी मराठी साहित्य पर बहुत जल्दी पड़ा। मिल-मजदूरों की हड़ताल, वर्ग-संघर्ष, धर्म और पूंजी का गठबंधन और न्यस्त स्वार्थ आदि बातों का पर्दाफाश यहां उन्नीसवीं शताब्दी के अंत से ही शुरू हो जाता है। उसकी थोड़ी-थोड़ी झांकी हिन्दी में मिलनी शुरू होती है, वहुत बाद में, करीब एक दशक के बाद। चूंकि हिन्दीभाषी समाज में सामन्ती जीवन-पद्धति—राजस्थान, मध्यप्रदेश, हरियाणा में तो वह अब भी गांवों में बदस्तूर चालू है, उत्तरप्रदेश, विहार में थोड़ा-थोड़ा कुफ्र टूटा है (राहुल जी ने 'त्रिवेणी समाज' पर लेख पैंतीस के बाद ही लिखा था)—अभी तक किसी न किसी रूप में चल रही है, साहित्य में 'दलित' या 'शोषित' उतने उभरकर आ नहीं सके।

मैं सन् १९५७ में, केरल में, सरदार पणिकर के साथ समस्त-केरल साहित्य परिषद् के अधिवेशन में गया था। एक जगह जी० शंकर कुरूप की अध्यक्षता में हिन्दी लाइब्रेरी का उद्घाटन था। मेरे भाषण के बाद एक लड़की ने सवाल पूछा, "हिन्दी में कितने हरिजन लेखक हैं?" अब मेरे पास जवाब तब भी नहीं था—आज भी बहुत संतोषजनक नहीं है। हमने केवल आगरे के रामन्नारायण यादवेन्दु के वारे में सुन रखा था कि वे उच्चवर्ण के लेखक नहीं हैं। पर वे भी 'हरिजन' होंगे इसका हमें इमकान नहीं था। कहने का मतलब, 'अछूत' काव्य लिखने वाले भी स-वर्ण ही थे—गुप्तबंधु। तब तक उन दीन-दुखियारों की चर्चा करने वाले लेखक भी हिन्दी में थे तो प्रेमचंद, जो स्वयम् कायस्थ थे। यानी स-वर्ण। हिन्दी में अब तक 'दलित' समस्या पर जो भी लिखा गया वह केवल 'लिपसिंपैथी' से अधिक नहीं था। क्या 'अब मैं नाच्यौ बहुत गोपाल' (अमृतलाल नागर) और क्या 'महाभोज' (मन्नू भंडारी) आदि सबमें उच्चवर्णीय लेखकों का अपने-आपको 'अवर्ण' (डी-कास्ट) करने का 'अवर्णनीय' प्रयास मात्र है। 'दलित' वर्ग लेखक बहुत कम आगे आए हैं। इसलिए हिन्दी में गांव की तसवीर बहुत कुछ दूरस्थ, तटस्थ, 'ग्राम्य' और 'अहा, ग्राम्य जीवन भी क्या है।' से आगे बढ़ी हुई नहीं मिलती। 'रेणु', नागार्जुन, विवेकी राय, शिवप्रसाद सिंह, जगदीश चन्द्र, तथा गोविंद मिश्र आदि के गांव कुछ अधिक यथार्थवादी लगते हैं। 'आंचलिक' उपन्यासों में कई तसवीरें हू-ब-हू हैं। पर दलित व्यथा, दलित पीड़ा, दलित दर्द वहां भी उस तरह का नहीं है जैसे मराठी में सहसा गत दस वर्षों में पद्य और गद्य दोनों में उभरकर सामने आया है।

शायद इसका एक कारण यह भी है कि विद्रोह या 'शिकायत' का जो तरीका मराठी मन अपनाता है, वह अधिक उग्र, क्रांतिकारी, प्रभावशाली और चोट पहुंचाने वाला होता है। हिन्दी लेखक कुछ अधिक सोफ़ियाना (सोफिस्टिकेटेड), अहिंसक, संकेत से बात कहने वाला, दो टूक और बेबाक बात को असभ्यता और

अभद्रता मानने वाला माना जाता है। हिन्दी में भी गाली-गलौज की भाषा में गद्य लिखने की 'उग्र' से कृष्णा सोबती—म० श्याम जोशी तक एक परम्परा है—राही मासूम रज़ा और कुछ और प्रगतिशील नाम इसमें जोड़ सकते हैं—पर उनमें से 'दलित' एक भी नहीं है।

जब हम 'दलित' शब्द का प्रयोग यहां कर रहे हैं, वह आर्थिक अर्थ में कतई नहीं है। मराठी के कई दलित लेखक प्रोफेसर हैं, उनकी स्थिति अन्य मध्यवित्त वर्गीयों जैसी ही है। परन्तु जन्मजात 'शूद्र', 'अन्त्यज', या अब 'नव-बौद्ध' बने 'अ-वर्ण' लोगों की ओर हमारा इशारा होता है। उस तरह के तबके में से मराठी में आज बीस अच्छे कवि और गद्य लेखक—कुछ तो उनमें बहुत ही प्रभावशाली और प्रसिद्ध—मिल जाएंगे। वैसी स्थिति हिन्दी में नहीं है।

इसका एक कारण यह भी है कि हिन्दी भाषाभाषी समाज में साहित्य-सेवा, साहित्य-समालोचना, साहित्य-प्रकाशन, साहित्य-शिक्षा यह सारा व्यवसाय एक-दम सवर्ण-केन्द्रित व्यवहार है। कभी कनौजिए, तो कभी सरयूपारीण-ब्राह्मणों का इस उद्योग पर एकाधिकार रहा। बाद में कुछ प्रगतिशील कायस्थ और अग्रवाल, जैन, माहेश्वरी या गुप्तलोग शिक्षा-संस्थाओं में, पत्र-पत्रिकाओं में प्रमुख रहे। इस सबका समाज पर प्रभाव पड़ता है, वैसा साहित्य पर भी पड़ता ही है। स्वराज्य के बाद एक ओर दुबे (द्विवेदी), तिवारी (त्रिवेदी), चौबे (चतुर्वेदी) वाज-पेयी, शुक्ला, शर्मा आदि लोगों का जोर था, तो दूसरी ओर कायस्थ नामावली वालों की—वर्मा, सक्सेना, भटनागर, श्रीवास्तव आदि—लेखकों की सूची में अधिकायत थी। बाद में ठाकुरजन यानी जिनके नाम के पीछे 'सिंह' विरुद था उनके भी झुंड के झुंड पद्य और गद्य साहित्य में नजर आते हैं। परतु हिन्दी में कौन लेखक 'अ-वर्ण' है यह जानने का कोई तरीका नहीं है? केवल नाम होने से धोखा हो सकता है। वह किसी भी जाति का लेखक हो सकता है। संक्षेप में जिसे 'कास्ट कान्शसनेस' कहते हैं, वह हिंदी क्षेत्र में अभी पिछले दो-तीन निर्वाचनों से अधिक उभरी है—इससे पहले सब जातियां एक ही तंबू में—मसलन कांग्रेस में अपनी सरकस दिखाती थीं। वही हाल साहित्य के प्राणि-संग्रहालय का था।

दलित साहित्य की चेतना को हिन्दी क्षेत्र में उभारने में कुछ तो गांधीवादियों और कुछ वामपंथियों को श्रेय देना चाहिए। सबसे पहले हरिजन समस्या की ओर ध्यान बड़े पैमाने पर आकृष्ट किया गांधी ने। वे दक्षिण अफ्रीका में तमिल बंधुआ मजदूरों की हालत देख आए थे। धीरे-धीरे किसान-सभा, मजदूर-संगठन और समाजवादी राजनीति के उदार मानवतावादियों ने इस प्रश्न को उठाया। प्रेमचंद के बाद 'दलित चरित्र' 'प्रसाद' की कहानियों में मिलते हैं। 'माटी की मूरतें' में रामवृक्ष बेनीपुरी ने, और बाद में 'सतमी के बच्चे' में राहुलजी ने गांव के इन उपेक्षित-दलितों के जीवन के बारे में लिखा। 'उग्र' और यशपाल में ऐसे

चरित्र मिलते हैं, और अमृतलाल नागर में, 'अश्क' में, और 'रुद्र' में भी। 'कफन' में जैसे पूरी तरह एक अस्पृश्य वर्ग को लक्ष्य किया गया या 'निराला' ने 'चतुरी चमार' में, वैसा चित्रण 'हंस' के प्रगतिशील लेखक संघ के मुख्यपत्र बनने के बाद भी बहुत कम मिलेगा। वात्स्यायन ने 'विशाल भारत' में एक बार 'प्रभाते पल दर्शनम' और 'पब्लिक सैनिटेशन' के बारे में एक लंबा लेख लिखा था पर साहित्य का विषय दलित कम ही बन पाए। मैंने एक बार इसका सर्वेक्षण किया था। 'उत्तर प्रदेश पत्रिका' के चार वर्ष पूर्व के 'हिन्दी साहित्य में दलित चेतना' नामक निबंध में—जो मैंने इससे पहले लखनऊ में नेशनल क्रिश्चियन काउंसिल के 'लिटरेचर इज प्रोटेस्ट अगेंस्ट सोशल इनजस्टिस' सेमिनार में पढ़ा था—मैंने कई हिंदी कवियों से पूछा था, "आपने दलित विषयक क्या लिखा है ?" डा० रामविलास शर्मा ने 'सिलहार', शमशेर बहादुर सिंह ने आगरे में हुई हड़ताल पर, रोटियों के जुलूस पर, डा० शिवमंगलसिंह 'सुमन' ने 'गुनिया' पर, डा० जगदीश गुप्त ने मछुआरों पर इक्की-दुक्की कविताएं लिखी थी। उदयशंकर भट्ट के 'सागर, सरिता और मछली' जैसे शीर्षक के उपन्यास में बंबई के कोलियों के जीवन पर लिखा गया था। रांगेय राघव ने कुछ इस तरह के तबके के लोगों को छुआ था। मैंने १९६९ में गांधी शताब्दी में लिखे उपन्यास 'किशोर' और उससे पहले 'जो' में हरिजन और नीग्रो प्रश्नों को उठाया था। यह केवल थोड़े से नमूने हैं। पूरी सूची नहीं। कुल मिलाकर एक विराट समुन्दर-सी समस्या का एक बूंद का भी इससे दर्शन नहीं हो पाता।

अन्त में दलित समस्या हिन्दी साहित्य में उभरकर न आने का प्रमुख कारण हमारे समालोचकों का दोहरा व्यक्तित्व है। हिन्दी काव्य और गल्प-उपन्यास की अधिकांश समीक्षा सतही है। वह सामाजिक समस्याओं की गहरी द्वंद्वात्मक क्रिया-प्रतिक्रिया को समग्र गुण-दोष रूप में बहुत कम देखती है पर इसी कारण अत्यन्त सरलीकृत और भोले कैशोर विस्मय-बोध से भरी हुई है। उसके लिए किसी भी उपन्यासकार की कोई भी कृति, जिसमें कुछ नयापन हो, 'महान' हो जाती है। फिर वह समीक्षक एक ही सांस में जैनेन्द्र के दार्शनिक उपन्यास, वीरेन्द्र के जैन-दर्शन के दुरूह आध्यात्मिक अनुभव और फिर किसी भी नये लेखक की कोई भी प्रथम कृति, सब एक जैसे विशेषणों से, बिना किसी भेद-भाव के, 'समत्व-बुद्धि' से अनुशंसित करता जाता है। एक ओर वे चिर-असंतुष्ट आलोचक हैं जो सर्वत्र 'अधूरा साक्षात्कार' देखते हैं, दूसरी ओर वे विचारवत हैं, जो हर चीज में कोई न कोई अच्छाई देखकर 'लाल टीन की छत' और 'विमल उर्फ जायें तो जायें कहां' के प्रयोग से 'दीक्षा' और 'बेगम का तकिया' और 'सर्वनाम' शिवानी तथा रमेश चंद्र शाह के उपन्यास की भी अत्यन्त भावोच्छ्वसित प्रशंसा करते रहते हैं। ऐसे में बेचारे दलित साहित्य का नंबर कहां लगना है। समालोचक को

अपने-अपने 'ललित' साहित्य से ही फुरसत नहीं है। यह नहीं कि ऐसे समालोचक अप्रामाणिक हैं; पर वे एकलेक्टिक (मधुकर वृत्ति के) हैं। उनमें गुणावगुण को तौलने-पहचानने के प्रखर प्रतिमान की कमी है—चूंकि वे समाज से साहित्य का संबंध विच्छिन्न कर चुके हैं और केवल शैली, शिल्प, भाषा, चरित्र-चित्रण, रोचकता को ही साहित्यिक सौन्दर्य का सार मान बैठे हैं। यह दोनों अतिवाद गलत हैं। व्यावसायिक पत्रिकाएं उन्हें बढ़ावा देती हैं।

'दलित' साहित्य की चेतना हिन्दी में कब उभरेगी, यह कहना कठिन है। पर जातिभेद जिस मात्रा में समाज में 'पाप' माना जाएगा, उसी मात्रा में उस पर प्रहार होता जाएगा। अभी तो गांवों में हरिजन जलाए जा रहे हैं; जेलों में बंदियों की आंखों में गंगाजल डाला जा रहा है; अस्पृश्य लड़कियों को, आदिवासी स्त्रियों को कामुकता का कन्दुक मानकर चला जा रहा है। साहित्यकार चुप है। उसके मन में कोई आक्रोश नहीं जगता। वह केवल कसीदा काढ़ने में डूबा हुआ है। ऐसे समय यह चेतना कहां से उभरेगी ? दलितों में से लेखक उभरकर आगे आने होंगे। तभी वह चेतना सही रूप में चित्रित होगी। 'जाके पैर न फटी बिवाई। वह न जाने पीर पराई !"

भारतीय भाषा परिषद, ३६, शेक्सपियर सरणि, कलकत्ता-१७

भारतीय मानसिकता और जनवादी लेखन

सुरेन्द्र तिवारी

यों तो आजादी के बाद के कुछ वर्षों में ही 'साधारण जन' या 'आम आदमी' के साथ ही वर्ग चेतना की बात भी उठने लगी थी। निराला, नागार्जुन जैसे कवि अपनी कविताओं के माध्यम से और भैरवप्रसाद गुप्त, रेणु, अमरकांत, मार्कण्डेय आदि अपनी कहानियों और उपन्यासों के माध्यम से वर्ग चेतना की बात करने लगे थे। पर तब तक यह बात उतनी स्पष्ट नहीं हो पायी थी, राजनीतिक धरातल पर तो इसे सोचा ही नहीं जा रहा था, तब साधारण जन की बात करते हुए प्रगतिशील दृष्टि से ही सोचा जाता था। प्रगतिशील बनने की कोशिश में ही अधिकांश लोग साधारण व्यक्ति की जिंदगी की ओर आंख उठाने लगे थे वर्ना तो यह 'नई कहानी' का जमाना था और कविता में नये नये प्रयोगों के नाम पर बिम्बों और प्रतीकों के सहारे एक अनजानी दुनिया की सैर हो रही थी। 'प्रगतिवादी' कवियों के पास एक खास तरह का चश्मा था और दुनिया की सारी तस्वीरें वे उसी चश्मे से देखते थे, इस कारण उनको एक-सा ही सबकुछ दीखता था। कुल मिलाकर कहानी और कविता दोनों ही क्षेत्रों में एक धुंधलका सा छाया हुआ था और रचनाकार आत्मकेन्द्रित ज्यादा थे समाजोन्मुख कम। इस कारण उनके मन में जनवादी लेखन की कोई स्पष्ट धारणा नहीं थी।

किन्तु सातवें दशक के उत्तरार्ध और फिर उसके बाद अचानक ही सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में वर्ग चेतना और जन संघर्ष की बात इतने जोरों से की जाने लगी है कि इसके बाद और कोई बात करना भी जैसे पिछड़ेपन की निशानी बन गया है या बुर्जुवापन। कवि हो या कहानीकार अगर उसकी रचना में आज वर्ग-चेतना की बात नहीं मिलती तो उसे रचनाकार मानने को भी शायद आज का बुद्धिजीवी वर्ग (खास तौर पर आलोचक वर्ग) तैयार नहीं होगा। आखिर इन कुछ ही वर्षों में इतना बड़ा बदलाव कैसे आ गया ? साहित्य का मानदण्ड परिवर्तनशील होता है और यह आवश्यक भी है पर एकाएक साहित्य की परिभाषा ही बदल दी जाये, ऐसा संभव कैसे हुआ ? 'साधारण जन' या 'आम आदमी' अचानक ही हिन्दी साहित्य के केन्द्र में कैसे आ बैठा ?

इन या ऐसे ही तमाम सारे प्रश्नों का उत्तर खोजने के लिए हमें कुछ ऐतिहासिक तथ्यों पर ध्यान देना पड़ेगा।

मानव सभ्यता की शुरूआत के साथ ही समाज का निर्माण हुआ और इसके साथ ही समाज में व्यक्ति दो वर्गों में बंट गया, यह ऐतिहासिक सच्चाई है। एक

वर्ग वह था जिसके पास किसी न किसी तरह शक्ति और साधन के स्रोत थे और दूसरा वर्ग वह था जो शक्तिहीन और साधनहीन था। स्वाभाविक है कि जो शक्तिशाली है वह शक्ति प्रदर्शन करके, दूसरे वर्ग को और अधिक डरा-धमका कर उसपर शासन करेगा, उसे अपना दास बनायेगा। यही तब हुआ और यही आज भी, हजारों वर्ष बाद भी, हो रहा है। यह वर्ग जो शासक था (या है !) यह शोषक भी था (आज भी है।) और इसने हमेशा समाज के कमजोर वर्ग को पीड़ा पहुंचाई है। हजारों हजार साल का मानव का यह इतिहास रहा है, जिसका कोई अन्त आज भी नहीं दीख रहा है।

पर इसके साथ ही अगर हम अपने अतीत पर, मानव-समाज की सभ्यता के विकास पर, दृष्टि डालें तो यह भी स्पष्ट हो जायेगा कि शोषक वर्ग का विरोध भी हमेशा ही होता रहा है। जिसे साधारण व्यक्ति कहा जाता है उसने अपने अधिकारों के लिए हमेशा संघर्ष भी किया है और एक बेहतर जिंदगी की आकांक्षा में अपना बलिदान भी किया है। शक्तिशाली वर्ग ने उसे कुचला है, उसके साथ पशुवत व्यवहार किया है, फिर भी यह हुआ अवश्य है कि व्यक्ति ने अपने अधिकारों की लड़ाई हमेशा लड़ी है। इतिहास ने इसे भले ही झुठलाया हो क्योंकि इतिहास भी अधिकांशतः समर्थ व्यक्तियों को ही अपनी परिधि में लेता है, उसका गुणगान करता है, साधारण व्यक्ति के लिए उसके पास जगह नहीं होती। साम्राज्य प्राप्ति के लिए हजारों व्यक्तियों की नृशंस हत्याएं हो जाएं, शासक अपनी पाशविक वृत्तियों के कारण साधारण व्यक्ति को अपने पैरों तले रौंद डाले, इतिहास उसे महान मानेगा, विश्वविजेता और परमवीर कह कर सम्मानित करेगा, पर जिन लोगों ने अपने अधिकारों की लड़ाई लड़ी, अपने लिए सामाजिक आर्थिक समानता की मांग की, उनकी चर्चा इतिहास नहीं करेगा, क्योंकि यह कोई महान कार्य नहीं है। तो जब हमारी दृष्टि ऐतिहासिक सच्चाइयों पर जाती है, इतिहास के पन्नों पर व्यक्ति के संघर्ष को हम तलाश करना चाहते हैं, तो हमें निराश ही होना पड़ता है। किन्तु उस काल का साहित्य अवश्य ही हमें दर्शाता है कि समाज का बुद्धिजीवी वर्ग (अंशतः ही क्यों न हो) जो समाज से, जन सामान्य से अपने को जोड़कर चलता है, उसके दुख दर्द पीड़ा को महसूस करता है, भोगता है, कम से कम विरोध और विद्रोह की भाषा अवश्य अपनाता है। और यह जो हजारों वर्षों से वर्ग विभेद है—शोषित और शोषक का अन्तर है—आज उसने एक भयंकर करवट ली है। अब वे लोग भी वर्ग चेतना की बात करने को विवश हैं जो वर्ग भेद को कभी सही मानते रहे हैं, आज भी अन्दर ही अन्दर सही मानते हैं क्योंकि इनकी दृष्टि में समाज से वर्गभेद को मिटाया ही नहीं जा सकता।

किन्तु हमें यह याद रखना होगा कि "हमारा साहित्य भारतीय जनता के

संघर्षों के बीच ऐतिहासिक रूप से विकसित हो रही सामाजिक राजनीतिक चेतना का कलात्मक दस्तावेज है।"[1] अगर इसी बात को थोड़ा और विस्तार देकर कहा जाय तो "आधुनिक युग और आधुनिकता का प्रारम्भ मनुष्य द्वारा अपनी स्थिति के प्रति असंतोष और विद्रोह करने तथा समाज की गली सड़ी मान्यताओं और व्यवस्थाओं को चुनौती देने या उन्हें अमान्य ठहराने के संकल्प के साथ ही हुआ है। आधुनिक युग में शक्ति और सत्ता के प्रतीकों में युगान्तकारी परिवर्तन हुए हैं और नवीन सत्ताओं और व्यवस्था-तंत्रों के विरुद्ध एक नयी जागरुकता, संघर्ष चेतना और विद्रोही मानसिकता पनपी है जो आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का ही हिस्सा हैं।"[2]

साहित्य के स्तर पर विरोध और विद्रोह की बात करते वक्त हमें एक और तथ्य को भी ध्यान में रखना पड़ता है कि विद्रोही साहित्यकार का दृष्टिकोण विद्रोह के प्रति क्या है ! क्योंकि आज की बदलती हवा में जो भारतीय मानसिकता है, विद्रोह भी एक फैशन बनता जा रहा है और यहीं आकर बहुत कुछ गड़बड़ हो जाता है। असल नकल की पहचान खो जाती है। कुछ लोग वर्तमान स्थितियों को बदलना चाहते हैं, कुछ यथास्थिति को तोड़ने के लिए विरोधात्मक कदम उठाते हैं, कुछ सत्ता और व्यवस्था की जकड़न को समाप्त करना चाहते हैं;और ये लोग रचनात्मक स्तर पर विरोध प्रकट करते हैं, विद्रोही तेवर अपनाते हैं पर कुछ लोग अपनी कुंठाओं या व्यक्तिगत स्वार्थों के कारण भी विरोधी स्वर अपना लेते हैं। इनकी बातें इतनी भ्रामक होती हैं, इनके शब्दों से इस तरह विद्रोह टपकता है कि इनकी असली नीयत कहीं खो जाती है। किन्तु धीरे-धीरे इनकी भाषा संयमहीन हो उठती है और यहीं से इनके अन्दर का खोखलापन झलकने लगता है। काम के अनुसार विद्रोह में संयम की जरूरत सबसे अधिक होती है तथा इसमें भी कोई शक नहीं कि "संघर्ष चेतना में ताप होता है किन्तु यह ताप अन्दरूनी ही होता है जो संयम के अभाव में ऊपर उतराने लगता है और संघर्ष चेतना मात्र भावुक प्रतिक्रिया में परिणत होकर रह जाती है। नतीजे के तौर पर रचना में प्रतिभासित संघर्ष चेतना छद्म और झूठी मालूम पड़ने लगती है। वह बदलाव की मानसिकता में अपनी भूमिका नहीं निभाती, उसका कारगर हथियार नहीं बनती, बल्कि बदलाव की इच्छा का विवेचन करती है।"[3] इसके साथ ही यह भी हमें याद रखना होगा कि "यथास्थिति से विद्रोह और रहस्यतंत्र को तोड़ने की कोशिश का आभास उस रचनाकार की रचना में भी नजर आता है जो न तो वैचारिक धरातल पर चीजों और स्थितियों की परख पड़ताल के जरिये वस्तुस्थिति और उसके जिम्मेदार कारणों की पहचान की कोशिश करता है, न ही मौजूदा हालत के बदलाव के औजारों की शिनाख्त में संलग्न होता है, न ही वैकल्पिक व्यवस्था की हल्की सी शक्ल भी उसकी कल्पना में मौजूद होती है,

किन्तु उग्र और आक्रामक मुद्रा में वह इस पर ताबड़तोड़ हमले जरूर किए जाता है।"[4]

तो विद्रोह सही तौर पर कहां और किस रूप में है इस की पहचान बहुत जरूरी है। हिन्दी साहित्य में एक लम्बे अर्से से यह भ्रांति फैली हुई है कि जो वामपंथी रचनाकार है वह स्वभावतः और आवश्यक रूप से विद्रोही साहित्यकार है। वामपंथी रचनाकार के प्रति यह भ्रामक दृष्टिकोण है। यह जरूर है कि वामपंथी रचनाकार व्यक्ति को, स्थितियों को एक विशेष सजग दृष्टि से देखता है, विकसित दृष्टिकोण से वह इनपर विचार करता है, इनका विश्लेषण करता है, मनुष्य-मनुष्य को एक समान दर्जा देकर उसे प्रगति की ओर अग्रसर करता है, जड़ व्यवस्था या जीवन-पद्धति के प्रति आक्रोश भी प्रकट करता है, पर इन सबका अर्थ यह कदापि नहीं कि वह विद्रोही ही है। वामपंथी रचनाकार आज के संदर्भों में आज की स्थितियों और व्यक्ति का वैज्ञानिक आधार पर अध्ययन-विश्लेषण करता है; उसमें भावुकता का अतिरेक न होकर स्थितियों के प्रति तटस्थता का भाव ज्यादा है, फिर भी, उसमें पूरा का पूरा विद्रोह नहीं होता। वह बहुत कुछ को नकारता है, अस्वीकारता है, पर केवल नकार या अस्वीकार ही विद्रोह नहीं कहलाता और इसी कारण पूरा वामपंथी साहित्य भी पूर्णतया विद्रोही साहित्य नहीं है, उसमें विद्रोह की भूख जरूर है। इससे भी अधिक यह स्मरणीय है कि इस खेमे में भी ऐसे घुसपैठियों की कमी नहीं है जो 'मार्क्सवाद' या 'माओवाद' को भी एक सीढ़ी की तरह उपयोग करते हैं। कोई ऊंचा पद, कोई बड़ी कुर्सी, कोई बड़ा सम्मान, कोई पुरस्कार कई आकांक्षाएं भी आकर्षित करती हैं। वामपंथी विचारों को दूषित करनेवाले ये न तो जनसंघर्ष की शक्ति को जानते हैं, न जनवादी विचारों से इनका कोई सरोकार होता है। पिछले दो दशकों में ऐसे कितने ही लोगों के मुखौटे उतरे हैं, यह कोई छिपी बात नहीं है। सत्ता की दोगली राजनीति ने ऐसे लोगों को और खोखला किया है। यहां यह स्पष्ट रूप से समझ लेना होगा कि "आधुनिक विद्रोह की प्रकृति एक बड़ी हद तक इस बात पर निर्भर करती है कि उसे संचालित करने वाली दृष्टि राजनीतिक अर्थ में उदारवादी, उग्रतावादी है या अराजनीतिक अर्थ में उग्र सुधारवादी। राजनीतिक अर्थ में उग्र सुधारवादी वे लोग हैं जो व्यवस्था को बनाए रखकर उसमें बदलाव के हामी हैं।"[5]

यह नहीं कि सही वामपंथी रचनाकार अपने बीच के इस मुखौटेधारी चेहरों से परिचित नहीं है। पर हिन्दुस्तान की मिट्टी-हवा-पानी में यह गुण भरा है कि सबकुछ को ठीकठाक मान लिया जाता है और सबकुछ को सहते हुए चलने की आदत-सी बन जाती है। सदियों से इस देश के लोगों में यही भावना रही है। लोग यह सोचकर चुप रह जाते हैं कि समय आने पर अपने आप सब ठीक हो

जायेगा। पर होता यह है कि कुछ ठीक होने से पहले ही सब कुछ चौपट हो जाता है। हजारों वर्षों की गुलामी इसी मानसिकता की देन रही है और आज देश पतन के जिस कगार पर आ खड़ा हुआ है, उसमें भी यही भारतीय मानसिकता कार्यरत है। वामपंथी दलों के आपसी टकराव-बिखराव, वामपंथी लेखकों का पूंजीवादी व्यवस्था से गठजोड़ के उदाहरण हमारे सामने भरे पड़े हैं।

तब भी, भारत में जनवादी विचारधारा की रक्षा और विस्तार वामपंथी रचनाकार ही कर सकता है, इसमें भी मुझे कोई संदेह नहीं। क्योंकि साम्यवाद की उपलब्धियां उसकी कमियों की तरह असाधारण हैं और इन उपलब्धियों के सहारे ही वामपंथी रचनाकार को आगे बढ़ना होगा। क्योंकि आज हमारे यहां, पूंजीवादी-सामंती व्यवस्था में व्यक्ति के व्यक्तित्व का जितना हनन हुआ है (और हो रहा है); राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक संकट जिस तरह दिन पर दिन गहराते जा रहे हैं; गरीबी, महंगाई, बेरोजगारी के साथ ही पिछड़े हुए वर्ग के लोगों पर जो असहनीय और अमानवीय अत्याचार और अनाचार हो रहा है; शासक वर्ग की राजनीति में कुत्सित अवसरवाद और गुंडागर्दी का जिस तरह बोलबाला है, इससे आम आदमी का जीवन जितना असुरक्षित होता जा रहा है; जातिगत वैमनष्य और संघर्ष, साम्प्रदायिक संकीर्णता और इनसे उत्पन्न तनाव और दंगे आदि गंभीर स्थितियों के बीच अगर कोई थोड़ा बहुत विरोधी कदम या विरोधी स्वर उठा सकता है तो वह वामपंथी रचनाकार ही है। पर डर है तो उन जनविरोधी तत्वों से, "जो आर्थिक और राजनैतिक सत्ताधीशों की चापलूसी करते रहते हैं और बदले में भौतिक सुविधाएं प्राप्त करते रहते हैं। ऐसे लेखकों की निष्ठा किसी व्यक्ति, दल या सिद्धांत के प्रति नहीं होती है, कुर्सी के प्रति होती है।"[६]

आज, आठवें दशक की समाप्ति के बाद हमें यह स्पष्ट लगने लगा है कि जनवादी साहित्य का प्रभाव सत्ता और व्यवस्था दोनों को स्वीकार्य है और इसी कारण ऐसे साहित्य का विरोध या साहित्यकार को ही समाप्त कर देने का षड्यंत्र सत्ता या व्यवस्था की तरफ से बराबर होता रहता है। यहां यह भी स्मरणीय है कि, "किसी भी व्यवस्था को साहित्य से तब तक कोई आपत्ति नहीं होती जब तक यह कलावादी-रूपवादी मान्यताओं के आधार पर लिखा जाता है। जब साहित्य में निजी मूल्यों, व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों तथा आत्मान्वेषण की स्थिति ही महत्वपूर्ण हो जाती है, शासक-शोषक वर्ग की दृष्टि में ये कला के उत्कर्ष के क्षण होते हैं। वह इस महान कला के गुण गाता है, इसके कलाकारों को उच्च सांस्कृतिक पदों पर प्रतिष्ठित करता है। शासन व्यवस्था को साहित्य से तब भी खतरा नहीं होता जब यह किसी दर्शन के रीति-रिवाज में उलझा रहे। अथवा लेखक देश और समाज के प्रधान अन्तर्विरोधों को उभारने, इतिहास की वास्तविक पहचान बनाने तथा सर्ववंचित वर्ग से प्रतिबद्ध होने के स्थान पर गौण अन्तर्विरोधों

को महत्व दे, इतिहास की गलत समझ रखे और जनता के संघर्ष से विश्वासघात करे। शासन-व्यवस्था को उस साहित्य से हमेशा खलबली महसूस होगी जो जन-समाज के यथार्थ को अभिव्यक्त करेगा, जनवादी मूल्यों को महत्व देगा, जनता के गुस्से को वाणी प्रदान करेगा तथा लोगों के दुखों-संघर्षों के साथ खड़ा होगा।"[७] 'जनवादी लेखक सत्ता और व्यवस्था दोनों के लिए खतरनाक सिद्ध होगा इसलिए उसे पथभ्रष्ट करने की कोशिश होगी। बड़े-बड़े प्रलोभनों से उसे जकड़ा जायेगा और उसे किसी भी तरह सोने (सिक्के !) के पिंजड़े में डालकर उसकी धार को भोंथरा किया जायेगा, जाल में फंसाकर उसे पथभ्रष्ट किया जायेगा। "सत्ता और व्यवस्था के पास आज पहले से कहीं व्यापक और आकर्षक जाल हैं—राज्याश्रय, पुरस्कार, पद, कमीशन, रेडियो, टेलीविजन, सरकारी अनुदान और उपाधियां तो कायम हैं ही, सांस्कृतिक आदान-प्रदान के बहाने विदेशों की यात्रा, अनेक संस्थानों की एडवाइजरी कमेटियों की सदस्यता, साहित्य अकादमी या नेशनल बुक ट्रस्ट द्वारा अनेक भाषाओं में अनुदित होकर बिकने की सुविधा आदि कितने ही नये पहलू खुल गए हैं और लगातार खुलते जा रहे हैं।"[८] और यह विडम्बना ही है कि हमारे देश का साहित्यकार—चाहे वह किसी भी विचारधारा का पोषक हो—मानसिक तौर पर इतना हिम्मती और अडिग और निर्लोभी नहीं होता कि वह सदा अपने कदमों पर स्थिर रह सके। लाख कोशिशों के बावजूद एक तरफ से अपने को फिसलने से भले ही बचा ले, दूसरी तरफ लुढ़क ही पड़ता है और सिर्फ यही कारण है कि तमाम जनवादी कोशिशों और शक्तियों के बावजूद भारत में पूंजीवादी-सामंती व्यवस्था की जड़ गहरी ही होती जा रही है; और पूंजीवादी व्यवस्थाकी हमेशा ही यह कोशिश होती है कि यथास्थिति बनी रहे और प्रतिगामी शक्तियों का अस्तित्व भी। इस कारण वह उन तमाम स्रोतों पर अपना पंजा फैलाये रखती है जिसके द्वारा यथास्थिति को बनाये रखा जा सकता है। राजनीति, धर्म, दर्शन, समाजतंत्र, अर्थतंत्र, संस्कृति आदि पर व्यवस्था का शिकंजा जितना मजबूत होता है, विद्रोही स्वर को दबाने में उतनी ही सुविधा व्यवस्था को प्राप्त हो जाती है। ये शक्तियां, चाहे वे किसी रूप में हों, अपने स्वार्थ के लिए मनुष्य को पीछे घसीटती हैं या फिर उसे जहां का तहां रखकर शोषक व्यवस्था को बरकरार रखने की कोशिश करती हैं। फिर यह भी कि लेखन के स्तर पर हमारे यहां जितने भी कवि या कथाकार हैं, उनका सीधा संपर्क साधारण जन से कभी नहीं हो पाता, उनकी कृतियों में विद्रोह का स्वर भले ही मुखर होता हो, आतंक की सृष्टि भले ही होती हो, पर व्यवस्था बदलने की वैयक्तिक कोशिश इनकी तरफ से नहीं रही है। जबकि पश्चिम में जेने, बैकेट, सार्त्र, आयानेस्को, अदाभाव आदि की कृतियों में जहां आतंकवाद की स्पष्ट मुहावरा है, वहां इन लेखकों ने व्यवस्था की बदल का वैयक्तिक प्रयास

भी किया है। हमारे यहां अभी भी इस प्रयत्न का सर्वथा अभाव है। नगरों-महानगरों में रहते लेखकों की भाषा भले ही विद्रोही हो, पर उनके इस विद्रोह की ताप अभी भी कुछ बुद्धि-जीवियों तक ही पहुंचकर रह जाती है और इस ताप की जहां सचमुच जरूरत है वहां शीतल वयार बह रही है।

यह भी अच्छी तरह समझ लेना होगा कि "विद्रोह में श्रम विभाजन नहीं चल सकता कि हम केवल लेखन में विद्रोह करेंगे, 'साधारण लोग' जीवन में विद्रोह करें।"[९] अगर जन विरोधी ताकतों से हमें निबटना है तो इस विभाजन को समाप्त करना होगा। पर हिन्दी साहित्य में अभी तक स्थिति, बिलकुल उलटी है। "हिंदी के विद्रोही साहित्य में 'विद्रोह' इकहरा है, सर्वस्तरीय नहीं है, वह 'यशलिप्सा' से बुरी तरह पीड़ित है। जीवन के सक्रिय क्षेत्रों में वह विद्रोह सक्रियता में परिणत नहीं हो पाता और न वह लेखक में 'आत्महत्या' का साहस ही भर सकता है। फलतः यदि क्रांतिवादी साहित्य संकीर्णता से पीड़ित हुआ तो 'विद्रोही साहित्य' समझौते से ग्रस्त हुआ है। स्वभावतः स्थितिशील या रूढ़िवादी तबके विद्रोहियों को क्रय करने के लिए प्रस्तुत रहते हैं और प्रायः सफल होते हैं।"[१०] इसके साथ ही यह भी समझना होगा कि "भीतरी ताप के अभाव में साहित्य कागज का फूल बन जाता है। नये शीर्षकों की तो बाढ़ आ जाती है, किन्तु केवल 'सहना' और 'सहने की स्थिति का भोग' धुएं और कुहरे की सृष्टि करता है, अग्नि की नहीं।"[११] इस बात की गहराई तक पहुंचकर अगर लेखकीय ऊर्जा की जांच करें तो इस बात से इनकार नहीं कर सकते कि "भारतीय लेखक, विशेष रूप से भारतीय भाषाओं में लिखने वाला लेखक, अधिकांशतः एक विशेष प्रकार की सामाजिक, पारिवारिक पृष्ठभूमि लेकर आता है और इसलिए वह एक विशिष्ट ढंग की मानसिकता से ग्रसित होता है। अपनी बात को और खोलकर कहूं तो कहना चाहूंगा कि लेखक वर्ग निम्न मध्य वर्ग के ऊंची जातियों के रूढ़िवादी, परम्परा पोषक कुलीन घरानों से आता है। यह वर्ग आर्थिक दृष्टि से अभावग्रस्त, दिखावे की दृष्टि से सफेदपोश, बातचीत में डींग हांकने वाला और प्रगल्भ, दिखने में आदर्शवादी, व्यवहार में ओछा, घर और बाहर एक असंतुलित जीवन जीनेवाला, मौकापरस्त और अपने वर्ग से जल्दी से जल्दी कटकर उच्च मध्यवर्ग या उच्चवर्ग के साथ जुड़ जाने को आतुर होता है।"[१२] और यह वर्ग जब किसी तरह अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं कर पाता, मनचाही जगह तक नहीं पहुंच पाता तो प्रतिक्रिया स्वरूप विद्रोही हो जाता है। और तब, विद्रोह की सही तस्वीर को धुंधला करनेवाला यह वर्ग जनवादी विचारधारा के लिए एक और रोड़ा बन जाता है। यह भ्रम पैदा करता है, लोगों को गलत दिशा की ओर मोड़ने के लिए नये-नये नारों और आन्दोलनों का सहारा लेता है तथा एक ऐसे वर्ग को जो सही तौर पर 'जनवादी' होता है, पथ विमुख कर देता है। यह वर्ग न तो 'विद्रोह' की भाषा समझता है

न 'संघर्ष' की मादा रखता है और व्यवस्था की कृपा-दृष्टि पड़ते ही यह फिर अपना सारा विरोध एवं विद्रोह भूलकर सामान्य कोटि से उठकर विशिष्ट कोटि में जा पहुंचता है और व्यवस्था का एक अंग बनकर प्रत्यक्ष जनवाद पर प्रहार करता है।

इस तरह यहां स्पष्ट होता है कि "आज विद्रोह में दो धाराएं हैं—एक, जो आक्रोश की मुद्रा से बुर्जुवा वर्ग को केवल ब्लैकमेल करना चाहती है, और दूसरी वह जो जनतांत्रिक व्यवस्था के अन्तर्विरोध का लाभ उठाकर प्रतिपक्ष को, प्रतिरोधी शक्तियों को बल पहुंचाना चाहती है।"

विद्रोह की पहली शर्त है प्रतिपक्ष को बल पहुंचाना। बल्कि, इसको यों कहा जाय तो ज्यादा सार्थक प्रतीत होगा कि "रचना का मतलब ही होता है भाषा में यथार्थवादी प्रतिपक्ष बनाना। अगर कोई साहित्यकार ऐसा अनुभव नहीं करता तो यह समझ लेना चाहिए कि वह संस्कृति के एकाधिकारवादी-पूंजीवादी दराज में जरूर कहीं न कहीं बंद है। ऐसा साहित्य शब्दों के सुन्दर मेल के बावजूद रचनात्मकता की दृष्टि से ऊपर होता है और लोगों के मन-प्राण से नहीं जुड़ पाता है।"[१४] और जब तक साहित्य मन-प्राण से नहीं जुड़ेगा, उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। ऐसा लेखन 'छद्म' ज्यादा होता है और यथार्थवादी वर्ग संघर्ष के अनुभवों से मुंह मोड़कर चलता है। यह जनवादी साहित्य के लिए अत्यंत घातक है। "जनवादी साहित्य के लिए बहुत आवश्यक है कि यह धरती की ठोस जन-सच्चाइयों को अभिव्यक्त करे। सिर्फ दर्शन जानना पर्याप्त नहीं है, इसका व्यवहार जनसंघर्षों के बीच किस रूप में हो रहा है और इस क्रम में विचार और अनुभवों का ऐतिहासिक विकास किस राष्ट्रीय स्तर पर हुआ है इसका विश्लेषण भी जरूरी है।"[१५]

१. साहित्य और जनसंघर्ष—डा० शम्भुनाथ, पृष्ठ-९
२. कविता की वैचारिक भूमिका—डा० नरेन्द्र मोहन, पृष्ठ ७९
३. कविता और संघर्ष चेतना—डा० यश गुलाटी, पृष्ठ १४
४. वही, पृष्ठ १३
५. विद्रोह का विचार और समकालीन कविता—डा० नरेन्द्र मोहन; कविता की वैचारिक भूमिका, पृष्ठ-७९
६. रचनात्मक आवेश और परिवेश—डा० हरदयाल; आधुनिक बोध और विद्रोह, पृष्ठ २४।
७. साहित्य और जनसंघर्ष—डा० शम्भुनाथ, पृष्ठ-१०
८. सृजनशीलता साहित्यकार और व्यवस्था—डा० महीप सिंह; विद्रोह और साहित्य, पृष्ठ-३७

९. सामयिक संकट और विद्रोह-साहस—डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय; विद्रोह और साहित्य, पृष्ठ ८७
१०. वही, पृष्ठ-८६
११. वही, पृष्ठ ८७
१२. सृजनशील साहित्यकार और व्यवस्था—डा० महीपसिंह; विद्रोह और साहित्य, पृष्ठ ३३
१३. साहित्यकार और विद्रोह भावना—राजीव सक्सेना; विद्रोह और साहित्य, पृष्ठ ५२
१४. रचनाधर्मिता और जन—डा० शम्भुनाथ; साहित्य और जन-संघर्ष, पृष्ठ १५०
१५. लोकवाम की सही दिशा—डा० शम्भुनाथ; साहित्य और जन-संघर्ष, पृष्ठ-१६७

१/१०१०१ बी-४, वेस्ट गोरख पार्क, शाहदरा, दिल्ली-११००३२

नागार्जुन, त्रिलोचन, रामदेव आचार्य, राजेंद्र शर्मा, शैलेश जैदी की कविताएं

प्रगतिशीलता के विविध रूप

डॉ० हरदयाल

नागार्जुन की प्रगतिशीलता असंदिग्ध है। वे मार्क्सवादी जीवन-दृष्टि को निःसंकोच भाव से स्वीकार करते हैं। उन्हें किसी राजनैतिक दल के साथ जुड़ने और उसके अनुशासन को मानने में भी विशेष आपत्ति नहीं है। इसलिए कोई भी पाठक यह आशा कर सकता है कि भावात्मक एवं वैचारिक स्तर पर नागार्जुन के काव्य में कोई अन्तर्विरोध नहीं होगा। जिसके पास 'वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि' हो उससे इस प्रकार की आशा करना उचित ही है, लेकिन नागार्जुन का काव्य निरन्तर अन्तर्विरोधपूर्ण रहा है। 'खिचड़ी विप्लव देखा हमने' की कविताओं में अन्तर्विरोध विद्यमान है। उनके इस संग्रह में उनकी १९७४-७८ के बीच लिखी राजनैतिक कविताएं संगृहीत हैं। इस कालावधि की मुख्य घटनाएं आपातकाल की घोषणा, राजनीति से किसी भी रूप में सम्बद्ध इन्दिरा-विरोधियों का कारावास, जयप्रकाश नारायण की सम्पूर्ण क्रान्ति का आन्दोलन और जनता सरकार का केन्द्र में आगमन रही हैं। इस संग्रह की कविताएं इन सभी घटनाओं से सम्बन्धित हैं। संग्रह में शुरू से लेकर अन्त तक इन्दिरा गांधी से सम्बन्धित कविताएं अन्तर्विरोधहीन हैं। इन्दिरा गांधी के प्रति नागार्जुन के मन में विरोध की तीखी भावना है, जिसकी अभिव्यक्ति इतने तीखेपन के साथ हुई है कि कहीं-कहीं शालीनता की सीमा का उल्लंघन हो गया है। नागार्जुन की दृष्टि में इन्दिरा गान्धी तानाशाह हैं। १९६५ की अपनी एक कविता में उन्होंने लिखा है :

इसके लेखे दण्डनीति ही परम सत्य है, ठोस हकीक़त
इसके लेखे बन्दूकें ही चरम सत्य है, ठोस हकीक़त
जय हो, जय हो, हिटलर की नानी की जय हो !
जय हो, जय हो, बाघों की रानी की जय हो ! (पृष्ठ २६)

इन्दिरा गान्धी सम्बन्धी कविताओं में अनेक विवादास्पद राजनैतिक मुद्दों की चर्चा है। इनके सम्बन्ध में नागार्जुन का अपना राजनैतिक दृष्टिकोण अभिव्यक्त हुआ है, जिससे सहमति-असहमति की पूरी गुंजाइश है। मार्क्सवादी होने के कारण गान्धी और विनोवा का मजाक भी नागार्जुन ने उड़ाया है। यहां नागार्जुन दुविधा

हीन हैं, लेकिन जयप्रकाश नारायण, उनकी सम्पूर्ण क्रान्ति और जनता दल को लेकर वे दुविधाग्रस्त और अन्तर्विरोधपूर्ण हैं। वे जयप्रकाश जी के प्रति प्रशंसा का भाव भी रखते हैं और निन्दा का भाव भी; वे सम्पूर्ण क्रान्ति का समर्थन भी करते हैं और उसका विरोध भी; वे जनता की जीत का स्वागत भी करते हैं और उसका विरोध भी। परस्पर विरोधी प्रतिक्रियाएं चार वर्ष की छोटी-सी अवधि में ही व्यक्त हुई हैं। नागार्जुन की प्रगतिशीलता की गति कितनी तीव्र है, आश्चर्य होता है! १९७४ की एक कविता में नागार्जुन ने जयप्रकाश जी को लेकर लिखा है:

एक और गान्धी की हत्या होगी अब क्या ?
बर्बरता के भोग चढ़ेगा योगी अब क्या ?
पोल खुल गयी शासकदल के महामंत्र की !
जयप्रकाश पर पड़ी लाठियां लोकतंत्र की ! (पृष्ठ १४)

१९७५ की अपनी एक कविता में इन्हीं जयप्रकाश जी को लक्ष्य करके नागार्जुन ने यह भी लिखा है:

जी हां, सत्य को लकवा मार गया है
उसे इमर्जेन्सी का शॉक लगा है
लगता है, अब वह किसी काम का न रहा
जी हां, सत्य अब पड़ा रहेगा
लोथ की तरह, स्पन्दनशून्य मांसल देह की तरह ! (पृष्ठ ३१)

नागार्जुन अपने इस प्रकार के ध्रुवान्तिक अन्तर्विरोधों का कारण अपनी भावुकता और अपना जनकवि होना बताते हैं। वे कहते हैं कि वे जयप्रकाश नारायण और उनकी सम्पूर्ण क्रान्ति को 'तरल आवेगों वाला, अति भावुक, हृदयधर्मी जनकवि' होने के कारण समझ नहीं पाये। (पृष्ठ २४) कवि की यह सफाई बहुत कारगर सफाई नहीं है। भला इस भावुकता और नासमझी का साथ कोई क्योंकर दे? इस प्रकार की भावुकता एक रोमानी मनोवृत्ति के कवि में तो क्षम्य हो सकती है, किन्तु यथार्थवादी प्रगतिवादी कवि में नहीं !

'खिचड़ी विप्लव देखा हमने' की इस प्रकार की कविताओं में कवि के साहस की हम दाद देते हैं, लेकिन कविता के रूप में प्रशंसा हम उन्हीं कविताओं की करेंगे जो सीधी-सादी वर्णनात्मक कविताएं हैं, लेकिन मानवीय संवेदनाओं से भरपूर हैं, जैसे 'लालू साहू', 'सिके हुए दो भुट्टे', 'बन्धु डॉ० जगन्नाथन', 'नेवला', 'खल गयी होली इस साल', 'वेतन भोगी टहलुआ नहीं हूं', 'जी हां, यह सबकी चहेती है' इत्यादि। नागार्जुन का व्यंग्य भी हमें आकर्षित करता है, जो समीक्ष्य संग्रह की कविताओ में भरपूर मात्रा में विद्यमान है। लेकिन नागार्जुन की कविताओं की जो चीज हमें सबसे अधिक आकर्षित करती है, वह उनकी अनुकरणीय शैली है

जिसमें उनका पूरा व्यक्तित्व मुखर है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा :

करुणानिधि वो चीफ़-मिनिस्टर नहीं है
जी हां, वो श्रीयुत इन्दिरा शंकर राय नहीं है
जी हां, वो इन्दिरा चरण शुक्ल नहीं है
जी हां, वो इन्दिरा देव जोशी या इन्दिरानाथ मिश्र भी नहीं है
बस वो तो आनरेबुल चीफ़ मिनिस्टर करुणानिधि है
और हमें भली भांति मालूम है
कि करुणानिधि तो मात्र करुणानिधि है
जी हां, मान्य बन्धु जगन्नाथन् ! (पृष्ठ ४२)

नागार्जुन शब्दों को परस्पर इस तरह जोड़ते हैं कि वे हमें चमत्कृत करते हैं, साथ उनकी अर्थगत व्यंजना बहुत बढ़ जाती है।

नागार्जुन ने अपनी एक कविता में लिखा है कि 'प्रतिबद्ध हूं, जी हां, प्रतिबद्ध हूं।' (पृष्ठ ५७) नागार्जुन जितने ही प्रगतिशील त्रिलोचन को इस प्रकार की घोषणा करने की आवश्यकता नहीं पड़ी है। उनकी 'ताप के ताये हुए दिन' की कविताएं इस बात की द्योतक हैं कि उनका काव्य-संस्कार नागार्जुन के काव्य-संस्कार से बहुत भिन्न है। उन्हें प्रकृति से बहुत लगाव है। वे अपनी बात अधिकांशतः प्रकृति के माध्यम से कहते हैं। 'हम साथी' कविता इसका प्रमाण है। वे जन साधारण के साथ जुड़े हुए हैं, इसका साक्ष्य हमें उनकी छोटी कविताओं, सॉनेटों, और लम्बी कविताओं में सर्वत्र मिलता है। 'अपना ही घर', 'मैं तुम' तथा 'नगई महरा' कविताएं उदाहरण के रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं। वे प्रगतिशील कवि हैं लेकिन रूढ़ प्रगतिशीलता उनमें बहुत कम है :

इन्द्रधनुष कितने / इच्छाओं के / बन-बन कर मिटते हैं /
सांवली घटाओं के।/ कीचड़ ही पैरों के / आसपास होता है। (पृष्ठ ४२)

कीचड़ के साथ-साथ उन्हें इन्द्रधनुषों का बोध भी है। सम्भवतः इसीलिए उनमें कुछ व्यक्तिवादी प्रवृत्तियां भी विद्यमान हैं ऊब, पश्चात्ताप और हताशा की :

मौन के सागर में / गहरे गहरे / निशिवासर डूब रहा हूं।
जीवन की/जो उपाधियां हैं/उनसे मन ही मन ऊब रहा हूं।

× × ×

बाढ़ में जो / कहीं न जा सकी / जलरुद्ध रही वहीं डूब रहा हूं। (पृष्ठ २५)

इस प्रकार की मनःस्थितियां स्वाभाविक हैं, किन्तु त्रिलोचन में आशा और आस्था की कमी नहीं है। त्रिलोचन भी अपनी कविता में देशज-स्थानीय शब्दों का उपयोग करते हैं, किन्तु उनका भाषा-संस्कार नागार्जुन जैसा भदेस नहीं है।

नागार्जुन और त्रिलोचन के समान वैचारिक दृष्टि से रामदेव आचार्य की 'रेगिस्तान से महानगर तक' की कविताओं का झुकाव भी वामपन्थ की ओर

है, किन्तु उनमें दलीय कट्टरता का सर्वथा अभाव है। कवि का कहना है कि रचना के समय "आदमी और आदमी के फासले सिमट जाते हैं। कपटी गिद्ध लाशों से हट जाते हैं। चींटियां शव घसीटना छोड़ देती हैं। बिच्छू का डंक कट जाता है। सांपों की विषैली थैलियां फूट जाती हैं। अपना बोझ, अपना दर्द सबका बोझ सबका दर्द बन जाता है। मेरा 'मैं' और तुम्हारा 'तुम' पीछे छूट जाते हैं। समूचा आदमी कागजों पर उतर आता है।" (पृष्ठ ४२) कविता की रचना-प्रक्रिया में अहम् का यह विलय कवि को जन साधारण के साथ जोड़ता है। कवि की मानव मूल्यों में आस्था है। मूल्यहीन और अभावग्रस्त जीवन से कवि को ऊब होती है। आपात्काल से सम्बन्धित कविताओं में रामदेव आचार्य ने अपनी आस्था की अभिव्यक्ति दी है और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता का पक्ष लिया है। इस सबके बावजूद उनमें पीड़ा का भाव भी विद्यमान है। इस दृष्टि से उनकी गज़ल के ये दो शेर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं :

क्या भरोसा तेरे मेरे प्यार का
ज़हर का जब नाम ही मुस्कान है।
खोज की हमदर्द की तो यों लगा,
हर गली हर मुहल्ला वीरान है। (पृष्ठ २८)

कवि महानगरीय जीवन से त्रस्त है। इसलिए उस जीवन का अभावात्मक पक्ष ही सामने आता है। इस देश में लेखक की स्थिति के प्रति भी कवि बहुत आश्वस्त नहीं है :

इस देश में लेखक एक ऐसा खेत है,
जो एक लम्बे अकाल के बाद लहराता है,
लहराते ही मालिक मर जाता है,
फिर कोई सम्पादक
या ज्ञानी प्रकाशक
हरी-भरी फसल चर जाता है। (पृष्ठ ६०)

रामदेव आचार्य की सबसे अच्छी कविताएं वे हैं जिनका सम्बन्ध पौराणिक विषयों से है। हमें लगता है कि कवि की प्रतिभा का यही क्षेत्र है। इसीलिए 'एक पौराणिक वेदना' कविता संग्रह की सर्वश्रेष्ठ कविता बन पड़ी है। इस कविता में कवि द्रौपदी के नारी से वस्तु बन जाने की व्यथा को सफलतापूर्वक पकड़ सका है। आचार्य ने यदि अपनी कविताओं को निर्ममतापूर्वक चुना होता तो उनका संग्रह अधिक प्रभावशाली बन पड़ा होता।

बिना वक्तव्य दिये, बिना नारे लगाये कविता सहज की प्रगतिशील हो सकती है, होती है, इसे देखना हो तो राजेन्द्र शर्मा की 'शेरों ने मुंह धोये' संग्रह की कविताएं पढ़नी चाहिए। उनके इस संग्रह की कविताएं शोषक

और शोषित के रिश्ते को तीव्र संवेदनशीलता और पारदर्शी प्रतीकात्मक व्यंजना के द्वारा व्यक्त करती हैं। उदाहरण के लिए संग्रह की दूसरी कविता 'ठीक इसी वक्त' को देखा जा सकता है। यह कविता बहुत ही काव्यात्मक ढंग से कहती है कि राजा और वजीर के नाम पर जनसाधारण परस्पर लड़ता है, मरता है। जनसाधारण में गोरे और काले का कोई भेद नहीं है। राजा और वजीर के लिए लड़ता हुआ यह सामान्य आदमी स्वयं कभी राजा या वज़ीर नहीं वन पाता। राजेन्द्र शर्मा ने अपने इस संग्रह की कुछ कविताओं में व्यवस्था की संवेदनहीनता और पुलिस के आतंक का प्रभावशाली चित्रण किया है। पुलिस या व्यवस्था के आतंक का एक चित्र देखिये :

लाल परेड में / तीस घोड़ों की टापों से /
लाल धूल उड़ती है / नहा-धोकर काम पर जाते लोग /
लाल परेड से हटकर निकलते हैं /
दूर झोंपड़पट्टी की दीवारों पर लगे / टाट और पटिये /
कांप-कांप जाते हैं / लाल परेड की धमक से। (पृष्ठ ३३)

स्त्री के शोषण-चित्र भी इस संग्रह में अनेक हैं। शोषित स्वयं कवि भी है। वह इस बात का अनुभव करता है कि कविता अर्थकरी नहीं है। उससे बड़ी चीजें तो दूर, खिलौने भी नहीं खरीदे जा सकते। (पृष्ठ ६८) राजेन्द्र शर्मा की कविताएं ऐसी संश्लिष्ट इकाई हैं कि उन्हें अंशतः उद्धृत नहीं किया जा सकता। एक छोटा-सा चित्र अंकित करके उसके माध्यम से कवि एक बड़ा सत्य व्यंजित कर देता है। उदाहरण के लिए 'लड़की नींद में है' देखी जा सकती है। सीधी-सादी वर्णनात्मक कविताओं की एकाध पंक्तियां या शब्द उन्हें अत्यधिक व्यंजना प्रदान कर देती हैं और बहुत अर्थपूर्ण बना देती हैं, जैसे 'खालिस' और 'आजकल' कविताओं में। राजेन्द्र शर्मा का यह पहला कविता-संग्रह ही उन्हें सिद्धहस्त कवि के रूप में सामने लाता है।

शैलेश जैदी की 'सूरज एक सलीब' की कविताओं की प्रगतिशीलता उनके धर्मनिरपेक्षता के दावे में है। अपने संग्रह की कई कविताओं में कवि अपनी धर्मनिरपेक्षता की उद्घोषणा बार-बार करता है। वह अपने को ऐसा मुसलमान बताता है जिसमें धार्मिक कट्टरता नहीं है :

मेरे घर में किताबों के कमरे में
कुरआन के साथ गीता भी रक्खी हुई है
और हदीसों की जिल्दों के पहलू में
वेदान्त के भाष्य भी हैं।
तुम मेरा घर जलाने की इच्छा से आये हो,

आओ जला दो इसे
मैं मुसलमान हूं। (पृष्ठ ६८)

कवि ने आर्यत्व की नयी व्याख्या की है (पृष्ठ २१) तथा साम्प्रदायिकता की सर्वत्र निन्दा की है। राजनेताओं के द्वारा अपने क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति के लिए भड़काये गये धार्मिक, साम्प्रदायिक एवं जातीय विद्वेष के विषाक्त वातावरण में कवि का यह धर्मनिरपेक्ष स्वर निःसन्देह प्रशंसनीय एवं स्वागत-योग्य है।

इस धर्मनिरपेक्षता के अतिरिक्त शैलेश के संग्रह की अधिकांश शेष कविताएं मध्यवर्गीय ताप एवं कुण्ठाओं से ग्रस्त हैं। कवि को लगता है कि सरकारी कर्मचारी अपनी इज्जत-मर्यादा वेचने में सबसे आगे हैं (पृष्ठ ४२-४३)। यदि सरकारी कर्मचारी की जगह मध्यवर्गीय व्यक्ति रखा जाये, तो ज्यादा सही बात होगी। कवि ने आर्थिक विषमता और मध्यवर्गीय व्यक्ति की आर्थिक परेशानियों की चर्चा भी अपनी कविताओं में की है। स्वातन्त्र्योत्तर काल के भ्रष्टाचार, बेईमानी और मूल्यहीनता पर उसने उंगली रखी है और एक स्वर से इन्दिरा गान्धी और 'जनता' दोनों की आलोचना की है। उसने अपनी सामाजिक, आर्थिक और साहित्यिक स्थिति का व्यक्तिगत रोना भी रोया है—

यह ठीक है कि मैं/रीडर या प्रोफसर/या किसी और बड़े ओहदे पर/
नहीं हूं,/ क्योंकि मैंने/चाटुकारिता नहीं की/नारेबाजियां नहीं की,/
दूसरों पर कीचड़ नहीं उछाली/शायद इसीलिए/मैं खुश हूं,/कि मैंने/
गुटों और दलों/और कुर्सियों से/समझौता नहीं किया। (पृष्ठ ११७)

इस प्रकार के कथन कवि की कुण्ठा और आत्मदया को सामने लाते हैं। ये इतने व्यक्तिगत हैं कि सामान्य पाठक का इनके साथ साधारणीकरण नहीं हो सकता। इसलिए ये कविता भी नहीं हैं। शैलेश की अधिकांश कविताएं गद्यात्मक वक्तव्य हैं। उनमें भावद्वन्द्व और विचारद्वन्द्व की वह विशेषता नहीं है जो वक्तव्य को भी कविता बनाती है। मुझे शैलेश के कवि से मुख्य शिकायत यह है कि उनके पास ऐसा कोई जीवन-दर्शन नहीं है जो उन्हें निजी सुख-दुख से ऊपर उठाये और उनके वक्तव्य को गरिमा प्रदान करे। उन्होंने सम्प्रति सुलभ सभी जीवन-दृष्टियों को अस्वीकार कर दिया है और अपनी कोई जीवन-दृष्टि वे विकसित नहीं कर पाये हैं। धर्मनिरपेक्षता गुण है, लेकिन दृष्टिनिरपेक्षता गुण नहीं है। यही कारण है कि संग्रह के प्रारम्भ में ४८ पृष्ठ लम्बी कविता 'सूरज एक सलीब' कवि की तमाम विद्वता के बावजूद एक असफल कविता है। उसका कोई संवेगात्मक या वैचारिक केन्द्र नहीं बन पाया है। शैलेश का पूरा संग्रह एक विश्रृंखल व्यक्तित्व का परिचय देता है। शैलेश के इस संग्रह में कुछ ग़ज़लें भी हैं। ग़ज़ल के लिए अपेक्षित चुस्ती और चमत्कार का इनमें अभाव है। इसलिए ग़ज़लों के कुछ शेर ही ऐसे हैं जो हमारा ध्यान आकर्षित कर पाते हैं। उस प्रकार के दो शेर ये हैं :

कुछ पाया, कुछ गवां दिया, कुछ भी रहा न शेष,
जीवन की दौड़-धूप का निष्कर्ष था सिफ़र।
शिक्षा की संस्थाएँ हैं चम्बल की घाटियां,
मिलते हैं हर कदम पे यहां डाकुओं के घर। (पृष्ठ १०९)

नयी-पुरानी पीढ़ी के कवियों के कविता-संग्रहों की यह चर्चा हमें इस नतीजे पर सहज ही पहुंचा देती है कि कोई भी कवि सार्थक कविता तभी लिख सकता है जब उसके पास ऐसी जीवन-दृष्टि हो जो प्रगतिशील कही जा सके। प्रगतिशील दृष्टि से हमारा तात्पर्य उस दृष्टि से है जो मानव-जीवन के सकारात्मक मूल्यों को स्वीकार करती है, उनके लिए संघर्ष करती है। ऐसी दृष्टि प्रत्येक कवि में बिलकुल एक जैसी हो, यह न तो सम्भव है, न ही आवश्यक। रचनाकार की वैयक्तिक स्वतन्त्रता को स्वीकार करना होगा, अन्यथा 'सृजन' के स्थान पर 'उत्पादन' होने लगेगा। यदि कवि की जीवन-दृष्टि कविता में वक्तव्य के रूप में न आकर व्यंजना के रूप में आती है तो कविता अधिक अच्छी होती है। ऊपर जिन कविता-संग्रहों की विवेचना की गयी है, उससे उनकी पारस्परिक गुणवत्ता के संकेत मिल जाते हैं। कवि की वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा वक्तव्य और व्यंजना का अन्तर प्रगतिशीलता को विविध रूपता प्रदान करता है।

चर्चित कविता संग्रह :

१. खिचड़ी विप्लव देखा हमने—ले० नागार्जुन, प्र० सम्भावना प्रकाशन, रेवती कुंज, हापुड़; प्रथम संस्करण १९८०; मूल्य २५.००

२. ताप के ताये हुए दिन—ले० त्रिलोचन, प्र० सम्भावना प्रकाशन, रेवती कुंज, हापुड़; प्रथम संस्करण १९८०; मूल्य २०.००

३. रेगिस्तान से महानगर तक—ले० रामदेव आचार्य, प्र० कृती प्रकाशन, जेल के कुएं के पास, बीकानेर-१; प्रथम संस्करण १९७८; मूल्य २५.००

४. शेरों ने मुंह धोये-ले० राजेन्द्र शर्मा, प्र०शीर्षक प्रकाशन, गढ़ रोड, हापुड़; प्रथम संस्करण १९८०; मूल्य १६.००

५. सूरज एक सलीब—ले० शैलेश जैदी, प्र० ग्रन्थायन, १०/१८ मानसिंह गेट, अलीगढ़-१; प्रथम संस्करण-१९८१; मूल्य २५.००

अमृत लाल नागर की कथा प्रतिभा की उपज

खंजन नयन

प्रो० विजयेन्द्र स्नातक

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कथाशिल्पी श्री अमृतलाल नागर ने महात्मा सूरदास को नायक बनाकर 'खंजन नयन' की रचना की है। 'खंजन नयन' की सार्थकता इसी में है कि जिस व्यक्ति को विधाता ने तन की आंख नहीं दी, उसी को मन की आंख देकर दिव्य दृष्टि सम्पन्न बना दिया। सूरदास ने अपने खंजन नयनों से रूप रस में मत्त होकर अतिशय चारु चपल नयनों वाले अपने इष्टदेव के दर्शन किये थे। जिन नयनों में प्रकृति का बाह्य रूपाकार देखने की सामर्थ्य न थी उन्हीं में परम सत्ता के अपार ऐश्वर्य को हस्तामलकवत् देखने की दिव्य ज्योति का आलोक भरा हुआ था। इसी अलौकिक आलोक को पाकर सूरदास खंजन नयन बने थे। नागर जी ने सूरदास के चरित्र-चित्रण में इसी दिव्यलोक को विविध संदर्भों में उभारने का प्रयास किया है। अधिकांश प्रारंभिक संदर्भ कल्पनाश्रित हैं।

'खंजन-नयन' का सूर, नागर जी की कथा-प्रतिभा की उपज है। वह एक ऐसा व्यक्ति है जो मध्य युग में भक्त कवि के रूप में प्रकट तो हुआ था किन्तु उसका जीवन-वृत्त किसी ने लिखा नहीं, उसके जीवन-चरित का कोई साक्ष्य नहीं। वार्ता ग्रंथों के आधार पर जो कुछ जाना जा सकता है वह भी प्रमाणिक नहीं है; इसलिए उपन्यास लेखक को कल्पना के ताने-बाने बुनने की अधिक सुविधा है। इतिहास में जो प्रसिद्ध है उसे भी स्वानुकूल बनाने का वह अधिकार रखता है और अपने नायक को मनचाही राहों पर चक्कर कटा सकता है। इसलिए मैं 'खंजन नयन' के सूर को इतिहास-पुरुष न मानकर कल्पित-कथा नायक कहने में कोई संकोच नहीं करता। इतिहास का पहला बिन्दु तो सूरदास का जन्मस्थान, जन्मतिथि, जाति, गोत्र, जनक-जननी, शिक्षा-दीक्षा आदि का उल्लेख है। 'खंजन नयन' में लेखक ने इन बिन्दुओं में कहीं समन्वयात्मक दृष्टि अपनाई है तो कहीं जनश्रुतियों से काम चलाया है। यत्र-तत्र वार्ता ग्रंथों से भी कुछ संबल पाकर तथ्यों का स्वेच्छा से वर्णन किया है। 'खंजन नयन' के प्रारंभिक सोलह परिच्छेदों में सूरदास का जो रूप उभरता है वह मानस-संघर्ष-रत व्यक्ति का है। इसके बाद सूर का साम्प्रदायिक रूप सामने आता है जो सच्चे वीतरागी भक्त का है। इसमें इतिहास के साथ प्रसिद्ध कथा-वार्ता का भी लेखक ने समावेश किया है।

नागर जी के मन में सूर का चरित कैसे उजागर हुआ, पहले वे ही जानते होंगे किन्तु 'खंजन नयन' का पाठक सहज ही उस सूत्र को पकड़ लेता है जो सूर की अपनी लम्बी जीवन-यात्रा में सहायक है। सूर का सखा श्याम उसे पांच बरस की आयु में राधा गोपाल के मन्दिर में मिल गया था। सूर की मां ने कहा था—बेटा यही श्याम तुम्हारे सच्चे सखा हैं, इन्हीं से बातें किया करो। और यही श्याम सखा सूर के भीतर ऐसे गहरे उतरे कि सुख-दुःख, पुण्य-पाप, राग-विराग, प्रेम-घृणा, उत्थान-पतन सभी स्थितियों में सतत साथ रहे और सूर को प्रबोधते रहे। नागर जी की इस कल्पना ने एक ओर सूर को सन्मार्ग पर आरूढ़ रखा तो दूसरी ओर सांसारिक आकर्षणों तथा विषय-वासनाओं से बचाने में पूरा योग दिया। कथा के पहले परिच्छेद में सूर को अपने भीतर रहने वाले इस श्याम सखा का सहारा ही दिव्य दृष्टि का सहारा है। बड़े विश्वास के साथ एक दिन सूरदास ने सेठ चन्दन मल से कहा था—आंख वाले अंधों से मेरी दृष्टि बहुत पैनी है। पृ० ३३।

'खंजन नयन' में जिस सूरदास को लेखक ने अपनी कल्पना से संवेदनशील मानवीय भूमिका में उभारना चाहा है वह कंतो नाम की एक कुरूप-कन्या के सम्पर्क में आने के बाद ही संभव हुआ है। कंतो अनाथ लड़की है। मल्लाह की बेटी होने से नाव चलाना जानती है। नदी-किनारे के लोगों से परिचित है किन्तु उपेक्षिता होने के कारण परिचय से लाभ नहीं उठाती। सूर से मिलकर उसे एक प्रकार की मानसिक शान्ति मिलती है। सूर के मन में एक तरंग उठती है। वह तरंग सूर के मन को मथकर सूर श्याम को प्रबोधती है। अठारह वर्ष की आयु व्यतीत होने पर सूर का मन अपने यौवन के उन्माद से इतना उद्विग्न नहीं है जितना शकुन, ज्योतिष और इन्द्रजाल के चमत्कारों से है। कंतो के सम्पर्क का प्रारंभ ही सूर के लिए चेतावनी बन गया है। अमीन तेगअली के द्वारा सेवा के लिए नियुक्त दो जवान दासियों का सूर को ध्यान हो आता है। सुनैना ने सूर स्वामी की उठती-भड़कती जवानी को अपने वश में कर लिया था। अंधा सूर सुनैना के आगे और भी अंधा हो गया था। किन्तु सूर के भीतर रहने वाले 'श्याम' ने उसे सन्मार्ग से हटने नहीं दिया था। श्याम मन पतनोन्मुख सूर को प्रबोधता है—अरे मूढ़ तेरी बाहर की तो फूटी ही हुई हैं, अब क्या भीतर की भी फोड़ेगा।'

सूरदास के संगीत, शकुन विद्या और शास्त्र ज्ञान से प्रभावित होकर मथुरा नगर वासी उसके प्रति आकर्षित होकर अन्य गायकों तथा कीर्तनियों को भूलने लगे थे। सूर की वर्द्धमान ख्याति से जलभुनकर उसके विरोधियों ने सूर को बदनाम करने का पूरा षडयंत्र तैयार किया। चार गुंडे इस षडयंत्र में शरीक हुए—मुकुन्दे, श्रृंगी गुरु, हरिहर और चौबे दाऊ दयाल। इन लोगों ने एक हकीम से बेहोश करने का सफूफ तैयार कराया और शर्बत के साथ घोंटकर सूरदास तथा कंतो को पिला दिया। दोनों के बेहोश होने पर उन्हें निर्वस्त्र तथा आलिंगनबद्ध

स्थिति में रात को लिटा दिया गया। शहर में प्रचार हुआ कि सूर और कंतो की प्रेमलीला देखने चलो। संज्ञाशून्य सूर और कंतो को क्या पता कि उनके पावन चरित्र पर कलंक की काली चादर उढ़ाई जा चुकी है। सूर और कंतो को इस स्थिति में पाकर लोगों के मन में रोष और आक्रोश उत्पन्न होना स्वाभाविक था। वे चारों गुंडे लाठी डंडा लेकर सूर और कंतो पर टूट पड़े और दोनों को मारपीट कर लहू लुहान कर दिया। यह सारा षडयंत्र सूर को मथुरा से भगाने की नीयत से रचा गया था। लेकिन सत्य का सूर्य हमेशा के लिए मेघ माला में नहीं छिपता। भोले गुरु को सूर और कंतो के सात्विक सम्बन्धों पर पूर्ण विश्वास था। उसने तथ्य की पड़ताल की और पता लगा लिया कि हरिहर ने हकीम से बेहोशी का सफूफ लाकर यह कांड रचा है। बस, फिर क्या था, भोले गुरु ने गुंडों की पूरी तरह खबर लेनी शुरू की और असलियत सबके सामने उजागर कर दी।

लेखक ने सूर की विकलांगता को किसी स्तर पर भी विघ्न-बाधा के रूप में नहीं माना है और न विकलांगता के कारण सूर को किसी भी सहानुभूति की अपेक्षा है। फलतः 'खंजन नयन' के नायक सूर मथुरा छोड़ने के बाद अयोध्या, प्रयाग, काशी आदि तीर्थस्थलों की यात्रा सम्पन्न करते हैं। सूर का यह सैलानी रूप लेखक ने अपनी कल्पना से चित्रित किया है।

सूरदास और दिलखुशशाह सूफी का वार्तालाप सगुण-निर्गुण भक्ति विचार के साथ प्रेम तत्व का स्वरूप उद्घाटित करता है। 'प्रेम प्रेम तो होय प्रेम ते पारहि जैहैं। प्रेम बंध्यो संसार प्रेम परमारथ पैहैं।' कहकर सूर ने प्रेम की प्रशंसा की तो सूफी भक्त ने निर्गुण का तत्व सुझाया।

महाप्रभु बल्लभाचार्य से सूर की भेंट का वर्णन (पृष्ठ १९५) उसी वार्ता के आधार पर है जो बहुचर्चित है। 'हौं हरि सब पतितन को नायक' पद गाकर सूर ने अपना परिचय दिया है। इस पद का दैन्य, कार्पण्य, विनय और अकिंचनता का भाव महाप्रभु को नहीं सुहाया। 'शूर होकर घिघियाते हो कुछ भगवद्लीला गान करो।' आदि का पूरा प्रसंग यहां लिखा गया है। इस संदर्भ को इतिहास अथवा वार्ता साहित्य के प्ररिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। वस्तुतः सत्रहवें परिच्छेद से नागर जी ने सूरदास के पुष्टिमार्गीय भक्त रूप को उभारना शुरू किया है। श्री बल्लभाचार्य से भेंट, दीक्षा ग्रहण तथा लीला गान प्रारंभ करना यहीं से प्रारंभ होता है और हमारे परिचय के क्षेत्र में आने लगते हैं। हमारे जाने-पहचाने सूर हमें अपनी वैष्णव-मंडली के साथ मिलते हैं। गोवर्धन पर्वत पर नया मन्दिर संवत् १५७६ में बनकर तैयार होता है और सूरदास कीर्तनिया का पद संभालते हैं। यहां भी कथा रस के लिए लेखक ने पंडित राधा चरण चौबे का प्रसंग जोड़ दिया है। श्री वल्लभाचार्य के संन्यास ग्रहण संवत् १५८७ का इसी प्रकरण में

उल्लेख है तथा जल-समाधि का भी इसी प्रकरण में वर्णन है। मीरांबाई और जीव गोस्वामी भेंट को भी लेखक ने स्थान दिया है। ये सभी संदर्भ इतिवृत्त और जनश्रुति के मेल से लोक प्रसिद्ध हो गये हैं। इनका सूरदास से सीधा सम्बन्ध न होने पर भी तत्कालीन भक्त मंडली से जुड़े होने से सूर से भी इनका लगाव जाहिर होता है।

'खंजन नयन' में सूरदास के गोलोकवास का संदर्भ लेखक ने बड़े शान्त-स्निग्ध वातावरण में अंकित किया है। पूर्ण आयु प्राप्त शीर्षस्थ भक्त को जिस मनोदशा में चित्रित किया गया है वह अपने आराध्य इष्ट देव के सिवा कुछ और पाना नहीं चाहता। उसके नयन खंजन पक्षी के समान चंचल हैं। सूर की आंखें भले ही अंधी हों पर अब वे राधा रानी के नयन हैं, अतिशय चारु और निर्मल। हां, प्रिय आगमन की प्रतीक्षा में पलक-पिंजरे में इधर से उधर बेकली से चक्कर लगा रहे हैं, बड़े चंचल हैं। प्रिय को देखने के लिए आंखों की पुतलियां कानों के पास तक दौड़ जाती हैं। कानों में लटके ताटंक फलांग कर धुर कोने तक देखने की उतावली में दौड़ रही हैं।

खंजन नैन रूप रसमाते।
अतिसय चारु विमल, चंचल ये, पल पिंजरा न समाते।।
चलि चलि जात निकट स्रवननि के सकि ताटंक फंदाते।
सूर दास अंजन गुन अटके, न तरु कबै उड़ि जाते।।

'खंजन नयन' के रचना-विधान तथा कथापट पर दृष्टि डालने के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि नागर जी ने सूरदास के व्यक्तित्व को कवि की अपेक्षा एक संवेदनशील, संयमी, भक्त के रूप में अंकित किया है। कवि की संवेदनशीलता सूर में उतनी नहीं है जितनी भक्त की उत्कट आकांक्षा और तड़प है। सुनैना और कंतो के प्रेमासक्ति के वर्णनों में भी सूर शान्त, संयमी और उद्वेगविहीन व्यक्ति है।

इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि 'खंजन नयन' कथा रस की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध उपन्यास है। वह रोचक भी है और रंजक भी। सूर जैसे साधु-संत को नागर जी रंगरलियों की जिन गलियों में ले गये हैं वहां चित्ताकर्षण की अनेक भंगिमाएं हैं। मोहक दृश्य हैं और मादक स्थितियां हैं। वहां पाठक कुतूहल से चकित होता है तो वर्णनों से मुग्ध होकर कथा के प्रवाह में निमज्जित हो जाता है। भाषा और शैली की दृष्टि से भी उपन्यास में सौष्ठव और चारुत्व है - अनुभव के सूत्र लिखकर नागर जी ने कुछ स्थलों को भावसम्पदा से समृद्ध बना दिया है। कुछ ब्रजवासी ब्रजभाषा बोलते हैं। ब्रजभाषा के रूप पर शायद पाठकों में ऐक-मत्य न हो किन्तु जैसी ब्रजभाषा लिखी गई है वह एक सीमा तक ब्रज मंडल की

सीमाओं की भाषा है। हां, ब्रज का परिवेश और समूचा वातावरण यह भाषा नहीं बना पाती। ब्रजभाषा की झपट तो पूरी है वह टकसाली ब्रज यह नहीं है। इसी प्रकार तीन-चार स्थलों पर अवधी भाषा का भी प्रयोग मिलता है। चन्दन सेठ का नौकर अवधी बोलता है। (पृष्ठ ७७) गयादीन भी अवधी बोलता है। (पृष्ठ १३६) अवधी के ये प्रयोग शायद भाषा छटा के लिए ही हैं।

'खंजन नयन' का ब्रजवासी सूरदास ब्रजभाषा नहीं बोलता। किसी के साथ उसका ब्रजभाषा में वार्तालाप न पाकर पाठक को कुछ विस्मय होना स्वाभाविक है। सूर का बीस-पच्चीस ब्रजवासियों से सम्पर्क दिखाया गया है। अधिकांश ब्रजवासी ब्रजभाषा बोलते हैं किन्तु सूर की भाषा खड़ी बोली ही है। क्या सूर-सागर के रचयिता को ब्रजभाषा का नैसर्गिक संस्कार सुलभ न था? यदि सूर की मातृभाषा ब्रज थी तो उसका प्रयोग 'खंजन नयन' में क्यों नहीं हुआ? यदि सूरदास अपने मित्रों, स्नेहियों, परिचितों और संगी-साथियों से ब्रजभाषा में बात करते तो निश्चय ही वह वार्तालाप अधिक सहज-स्वाभाविक एवं प्रवाहपूर्ण होता। मुझे ऐसा लगता है कि सूरदास के सम्पूर्ण संवाद को ब्रजभाषा में लिखना शायद नागर जी के लिए दुःसाध्य था अतः इस दुष्कर कार्य से बचने के लिए उन्होंने सूर को खड़ी बोली का वक्ता बनाया है। उपन्यास की मूल भाषा खड़ी बोली है अतः नायक को स्तरीय भाषा का ही प्रयोग करना चाहिए, इस तर्क से सूर को ब्रज-भाषा से दूर रखा जा सकता है।

सूर ने जो तीन-चार वाक्य ब्रजमिश्रित बोले हैं उनमें भी सूर की स्निग्ध वाणी का पुट नहीं है। अच्छा होता कि ब्रजभाषा के रससिद्ध कवि सूर अपनी मातृभाषा की छटा भी इस उपन्यास में दिखाकर पाठकों को मुग्ध करते।

'खंजन नयन' में कुछ ऐसे स्थल हैं जिन्हें हम भाव और विचार का समुदय कह सकते हैं। भाषा की समास शक्ति उन स्थलों पर नागर जी के सुचिन्तत एवं परिपक्व जीवन-दर्शन को प्रकट करने में समर्थ है। इन विचार-सूत्रों का मर्म वही समझ सकता है जो नागर जी की अभिव्यक्ति क्षमता से पूर्णतया परिचित है।

ए ५/३, राणा प्रताप बाग, दिल्ली-७

मुद्राराक्षस का उपन्यास वाम का ध्यानाकर्षक दस्तक

मेरा नाम तेरा नाम

डॉ० विवेकी राय

साहित्य को लगभग लड़ाई के हथियार के रूप में इस्तेमाल करने के अंदाज़ में इस दौर हिन्दी-उपन्यासों का जो एक सिलसिला चला है उसमें मृदुला गर्ग के 'अनित्य' के बाद मुद्राराक्षस की कृति 'मेरा नाम तेरा नाम' ने ध्यान आकर्षित किया है। वाम के नये चिन्तन-मंथन, आत्मविश्लेषण और मूल्यांकन को कलात्मक सृजन में ढालकर इतने ज़ोरदार और विस्तृत रूप में प्रस्तुत करने वाला सम्भवतः यह पहला राजनीतिक उपन्यास है जिसे कथाकार ने व्यापक राष्ट्रीय पृष्ठभूमि पर खड़ा किया है। समूची लड़ाई वर्तमान लोकतांत्रिक व्यवस्था के प्रति है और मात्र अस्वीकार-नकार नहीं उस पर भीषण प्रहार की स्थितियों का सृजन किया गया है। भरपूर प्रयत्न हुआ है कि उपन्यास खुले विद्रोह का मूल्यवान दस्तावेज बन जाय परंतु पूरी पुस्तक पढ़कर ऐसा लगता है कि वह ध्यानाकर्षक दस्तक बनकर रह गया है और नक्सलवादी खूनी क्रांति सेक्स क्रांति में दब गयी है।

अव्यवस्था और विद्रोह की खुरदरी स्थितियां आरंभ से ही उभार पाने लगती हैं और 'मेरा नाम तेरा नाम' में नयी समाज रचना के पूर्व पुरानी परंपरागत व्यवस्था, संज्ञा, संस्कार, धारणा, मानदंड और नैतिकता को अत्यन्त क्रूर और कठोर होकर खण्ड-खण्ड कर देने का संकल्प छाया रहता है। अन्याय, अत्याचार और उत्पीड़न को बरदाश्त न कर उबलते उत्तेजित नये खून की युवाशक्ति हथियार बंद खूनी संघर्ष पर उतर आयी दीखती है। उसके विचार से तंत्र तंत्र है और व्यवस्था व्यवस्था है। बुनियादी बदलाव नहीं तो व्यवस्थापक बदलकर क्या होगा ? बदलनेवाला स्वयं बदलकर तंत्र में जकड़ जायगा तथा खप जायेगा। उपन्यास में इस प्रकार व्यक्ति और व्यवस्था के अंतराल एक हद तक साफ करने का प्रयास हुआ है। मि० राय एक व्यक्ति के रूप में जो है वह व्यवस्थापक बनने के बाद नहीं रह जाता है। उसे व्यवस्था खा रही है। वह दब-घुट रहा है। कथाकार उसके घुटन भरे अंतरसंघर्ष को इस रूप में पेश करता है कि लगे, व्यवस्था को इसलिए बदलना है कि उसमें जाकर प्रगतिशील व्यक्ति भी प्रतिक्रियावादी हो जाता है। बदलाव के लिए लड़ाई भी उपन्यास के आरंभिक पृष्ठों से ही शुरू हो जाती है। यह लड़ाई सरमायेदारों, सामंतवादियों और प्रतिक्रियावादियों के

विरुद्ध है। इसमें वर्ग चेतना पैदा कर जनक्रांति का आह्वान है, सशस्त्र हिंसक क्रांति का खुला नक्सली आह्वान है। 'सारा हिंदुस्तान महाजन बगान हो जायेगा। माओत्से तुंग जिंदाबाद।' के परचे बंट रहे हैं। (पृ० ५६) महाजन बगान नक्सलबाड़ी का प्रतीक है। इस प्रकार की अनेक राष्ट्रीय जीवन की राजनीतिक संज्ञा कृति में प्रतीकात्मक रूप से आया है। एक प्रकार से आज के उच्चस्तरीय राष्ट्रीय जीवन की सड़ांध को कल्पित कहानी में कथाकार पेश करता चलता है और वह प्रतीकात्मक, रहस्यात्मक, कुहराच्छन्न, सघन सस्पेंस से पूर्ण, सांकेतिक और विशेष राजनीतिक-दर्शन से नियंत्रित होकर आतंक-बोझिल हो जाता है।

कथाकार व्यवस्था में लगे अधिकारियों, नेताओं, उच्चवंशों, पत्रकारों और विशिष्ट लोगों को जहां पाता है, तेज़ी से झपट पड़ता है और तब उसके भीतर एक सधा हुआ काइयां कैरीकेचरिस्ट उभर आता है। वह उनकी खूब जमकर, दूर तक और देर तक खिंचाई-किंचाई करता है। इस प्रकार व्यवस्था की वेहदगियों और भद्दगियों को कलम की नोक से कोंच कर उछालने में मूलकथा बहक जाती है तब भी वह परवाह नहीं करता है। महाजन बगान की घटना पर गृहमंत्री के वक्तव्य वाला प्रकरण ऐसा ही है। वक्तव्य के खोखलेपन को डरपोक, खुशामदी और अवसरवादी पत्रकार सरूपसिंह के कोण से उभाड़ा जाता है। इसके साथ ही आंतरिक घात प्रतिघात और आक्रमण-प्रत्याक्रमण का रोमांच भी साथ-साथ चलता रहता है। वर्ग शत्रुओं को लगता है, किसी भी कोण से न बख़्शने के संकल्प के साथ कथाकार कलम उठाता है। अपने चित्रों में प्रतिक्रियावादियों की बदहवासी, नपुंसकता, टूटन और पराजय का पुरज़ोर वर्णन चुने हुए कठोर और कड़वे शब्दों में होता चलता है। कथाकार हरचन्द कोशिश में लगा प्रतीत होता है कि ज़माने की रफ्तार से तेज़ रफ्तार वाला उपन्यास वह हिंदी पाठकों के सामने रख दे। लेकिन वह अनजाने सेक्सी गलियों की पैमायश में लग जाता है। कहीं-कहीं राजनीतिक क्रांति के बोतल में वियतनाम के खून की जगह सेक्स क्रांति का सड़ा भारतीय शराब झलकने लगता है। इस देश की व्यवस्था और अमलदारी से जुड़ी हर गंभीर घटना हर जगह कथाकार को मज़ाक जैसी लगती है। निस्सन्देह यह एक सत्य है कि वर्तमान सभ्यता, संस्कृति और व्यवस्था-तंत्र असाध्य रोग से ग्रस्त है और तथाकथित उच्च अभिजात राष्ट्रीय स्तर के लोग जिन्हें आज मंत्री, प्रधान मंत्री, विधायक, सांसद, नियामक, संचालक और नाना आकर्षक नामों में जानते-पहचानते हैं, राष्ट्रीय चरित्र से सर्वथा रहित होकर नाना प्रकार की गंदगियों और बदबुओं से भर गये हैं फिर मात्र उनके विद्रूप की पकड़ से किसी न किसी स्तर पर मनोरंजन भर हो सकता है, क्रांति कैसे होगी? क्रांति के लिए मसखरेपन से ऊपर उठकर कुछ अतिरिक्त रचनात्मक होना पड़ेगा।

उपन्यास में रंजीत, इदरीस और मार्कण्डेय आदि जुझारू गुरिल्ले अपने ढंग

की लड़ाई में जुटे चित्रांकित हैं। ये आर्ट इण्टरनेशनल जैसी संस्थाओं में घुसकर उसे भीतर से तोड़ने में लगे हैं। इनके संगठन बुर्जुआ समाज को ध्वस्त करने की दिशा में सक्रिय हैं। नक्सलवादी बनाम बगानवादी आंदोलन का आतंक फैलता जाता है। उत्तरार्द्ध में इस आतंक को अधिक बनाने का प्रयास हुआ है परंतु वह सामान्य से आगे नहीं बढ़ पाता है। सिगरेट बेचने वाला मुर्दा जैसा बूढ़ा सिगरेट के साथ बगानवादी परचा भी बांटता है। बम फेंके जाते हैं। तोड़फोड़ होता है, आग लगती है, गोली चलती है और युवक मोर्चा बनाते हैं। तब बुद्धिजीवी पत्रकार होटलों में बैठे बीयर की बोतलें खाली करते हुए क्रांति करते होते हैं और उसमें क्रांति-चक्रम सरूप जैसा बुद्धू और नपुंसक पत्रकार नाहक फंसते होते हैं। ऐसे अवसरों पर हास्य-व्यंग्य का हलकापन आतंक और सनसनी को प्रभावहीन कर देता है। मुख्य समस्या कि प्रजातांत्रिक ढांचे में क्रांतिकारी पार्टियां भी सत्ता में आकर प्रतिक्रियावादी हो जाती हैं, बार-बार रचनात्मक कलम से छूट जाती है और कथाकार को उसे वक्तव्यों में उभारना पड़ता है। कथाकार वास्तव में पक्षधरता के साथ पुनर्मूल्यांकन की मुद्रा में भी होता है। व्यवस्था को बदलने में लगे क्रांतिकारी संगठन स्वयं उसमें खप जाते हैं और तब उनके आंदोलन और नारे आदि मूर्खतापूर्ण मज़ाक से अधिक कीमत के नहीं रह जाते। भाड़े के भोलेभाले आंदोलनियों की भीड़ से क्रांति सम्भव नहीं। एक जगह इस भीड़ के बोध को उभारने में कथाकार ने हद कर दी है। नारा उठाने वाला बोलता है, 'हर ज़ोर जुल्म के टक्कर में...' तो उसके बाद भीड़ का एक भाग बोलता है, 'कृष्ण भगवान की जै।' इस प्रकार पुनर्मूल्यांकन, आत्मनिरीक्षण और आत्मालोचन की प्रवृत्ति से कृति का मान बढ़ जाता है।

उपन्यास में चित्रांकित बगानवाद की प्रतिष्ठा विधिवत् नक्सलवाद के रूप में बहुत आगे चलकर होती है। रंजीत आदि लड़के एक नारा लगाते हैं, 'मेरा नाम तेरा नाम : वियतनाम !' (पृष्ठ ३२९) और फिर ऐसा लगने लगता है कि नारे, पोस्टर और कामरेड माओ की तस्वीरें एक दहशत लेकर उगती चली जाती हैं, बड़े-बड़े अधिकारियों के बंगलों में, उनकी टेबुलों पर, प्रतिष्ठानों में, सड़क पर, पूरे समाज के भीतर, एक आकस्मिक और अचूक विस्फोट की भांति। माओवादी खूनी क्रांति का प्रतीक एक संस्था है, 'द रिवाॅल्यूशन' और इसके अंतर्गत गुरिल्ला सत्र के आरंभ होते हर स्तर पर लड़ाई, हर मोड़ पर माओवादी आंदोलन, व्यवस्था के प्रति विद्रोह, और लगने लगता है कि कृति के आरंभ में जो सारे हिंदुस्तान के महाजन बगान हो जाने का ख़्वाब उभरता है (पृ० ५६) वह पूर्ण होने जा रहा है और तब पाठकों को लगने लगता है अब उपन्यास सामान्य प्रतिबद्ध उपन्यासों की भांति एक आदर्श (वामपंथ) की ओर बढ़ा। इसी बीच उसके शिल्प का एक असामान्य कोण उभर आता है और घटनाक्रम इस माओ-

वादी आंदोलन का उसीकी अपनी कसौटी पर मूल्यांकन या परख-पर्यवेक्षण बन जाता है। फिर तो इसके तटस्थ द्रष्टाजनों के साथ पाठकों को भी लगने लगता है कि यह प्रतिक्रियावादियों के विरुद्ध छिड़ा आंदोलन अनजाने उनके जाल में फंस गया है और पथ भ्रष्ट हो गया है। ऐसे मौकों पर इस पूरे आंदोलन का विश्लेषक, द्रष्टा, निरीक्षक और सत्यस्वरूप एक बहुत सूक्ष्म पात्र हिमांशु उपन्यास में अवतरित हो जाया करता है। हिमांशु का अंतिम विश्लेषण तो अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण और निष्कर्षात्मक टिप्पणी है। वह कहता है—

'तोप की नली इस देश में औरतों की लुंगी बन जाती है।' (पृ० ४६७) '···व्यवस्था के विरोध की भी एक व्यवस्था बन जाया करती है। तब उसमें सुविधायें घर कर जाती हैं फिर सुविधाओं पर व्यवस्था की नौकरशाही।' (पृ० ४७०) इस टिप्पणी के बाद पाठक देखता है कि हिमांशु घर छोड़कर जा रहा है और उस घर में नौकरशाही का एक सड़ा चूहा, उसका पिता अपने संस्कारों में कैसे दम तोड़ रहा है। हिमांशु इस पूरे खूनी क्रांति के आंदोलन से जो निराश-सा लग रहा है, उसके कारण स्पष्ट हैं। पीछे वह एक स्थान पर कहता है, 'पचास वर्ष में जिसे तुम मजदूर-आंदोलन कहते हो उसमें यह भी नहीं जाना जाता है कि उनके झंडे का रंग सुर्ख क्यों है? ···मुझे धोखा मत दो। पैसों की लड़ाई···बोनस थोड़ा और···भिखमंगों की जमात को तुम क्रांति से जोड़ोगे?' (पृ० ४१०)

'मेरा नाम तेरा नाम' में हिमांशु एक ऐसा प्रमुख पात्र है जो सारे उपन्यास में व्याप्त होकर भी कहीं नहीं है। वह कहीं विद्रोह करता दृष्टिगोचर नहीं होता है परंतु इस पूरे आंदोलन में वाम के ऊंचे से ऊंचे मूल्यों के आदर्श-शिखर के रूप में उठाया गया है। वास्तव में हिंदी उपन्यासों की पात्र-परिकल्पना में इस प्रकार की योजना से शिल्प का एक सर्वथा नया आयाम उभरता प्रतीत होता है। मृदुला गर्ग के उपन्यास में अनित्य भी इसी प्रकार का सूक्ष्म पात्र है। दोनों वामपंथी कृतियों में ही इस प्रकार की पात्र योजना का पहले-पहले दर्शन भी विचारणीय है। ऐसा लगता है कि वाम सृजन के बहाने सचमुच अब अपने नये मूल्यांकन की मांग कर रहा है। वकालत ही नहीं, उसमें समीक्षा और आत्मालोचन के आयाम भी उभर रहे हैं। हिमांशु के ऊंचे, गंभीर और आदर्श विचार-चरित्र की दिशा से कृति पर विचार करने पर उसका पूरा अर्थ ही बदल जाता है और इस नये अर्थ में सही दिशा और सही कदम की जो छटपटाहट छिपी प्रतीत होती है वह बहुत मूल्यवान है।

बहुत सटीक, मौन और सही-सुलझे वाम के सिद्धांत-बिंदु की भांति निखरे हिमांशु के वक्तव्यहीन व्यक्तित्व की सक्रियता के बीच ३६वें अध्याय में उसका जो महत्त्वपूर्ण कथन सामने आया है वह सबसे पहले पाठकों को आकर्षित करता है। व्यवस्था के विरुद्ध क्रांति करते लोगों की कमाओ-खाओ जैसी स्वार्थपरता, दादा-

वादी तू-तू मैं-मैं और सिद्धांतों की फैशनपरस्ती के विरुद्ध उसने आवाज उठायी है। वह उन लोगों की निन्दा करता है जो व्यवस्था के ज्यों का त्यों रहते मात्र पैसे की वेहतरी के लिए लड़ते हैं। हिमांशु वाम की तीन पहचान बताता है, 'एक वह है जो वेहतरी के साथ व्यवस्था में संशोधन चाहता है और संतुष्ट है। एक वह है जो पैसे में वेहतरी भी चाहता है और व्यवस्था में बदल भी तथा एक केवल व्यवस्था में बदल ही चाहता है क्योंकि वह जानता है कि वेहतरी उसीसे जुड़ेगी !' (पृ० २६५) इस वर्गीकरण के बाद हिमांशु सवाल उठाता है कि ये सब एक साथ चलाये जायेंगे तो क्या होगा ? घोड़े, गधे, चूहे और सूअरों की एक साथ दौड़ कैसी होगी ? इस प्रकार हिमांशु कृति में सर्वाधिक ध्यानाकर्षक विंदु बनकर छाया रहता है। सुकान्त की पेड़ से लटकती लाश का आरंभिक चित्र हिमांशु के संदर्भ में पर्याप्त सांकेतिक है क्योंकि दोनों का मार्ग और गन्तव्य एक है। दोनों देशद्रोही और अंगरेज़ परस्त चाटुकारों की तीसरी पीढ़ी में, स्वातंत्र्योत्तर राष्ट्रीय स्थितियों के घिनौने कीचड़ में खूनी क्रांति के कमल की भांति उगे हैं। खूनी क्रांति की लड़ाई चल रही है, व्यवस्था से, विरोधी पार्टियों से, संशोधन वादियों से, जगत गुरुओं से और अपने ही पथभ्रष्ट सहधर्मियों-सहकर्मियों से। किंतु ये सारे मोर्चे जब मज़ाक जैसे हलके स्तर के हो जाते हैं तो समूची स्थितियों के पुनरावलोकन और मोर्चों के पुर्ननिर्धारण के लिए हिमांशु जैसे शलाका-व्यक्ति का घर छोड़कर जाना गंभीर संकेतों से जुड़ जाता है और इस विंदु पर उपन्यास को पहुंचाकर कथाकार वास्तव में अपनी उत्कृष्ट शिल्प-कुशलता का परिचय देता है।

संभवतः हमारी पूरी परम्परागत व्यवस्था की छुरी नारी और उसके साथ जुड़ी नैतिकता को मानकर कथाकार ने समस्त अव्यवस्था और विद्रोह के प्रतिनिधि क्षेत्र के रूप में इसी वर्ग का चयन किया है। श्यामली, पेरेमिला, श्रीमती प्राणनाथ, कमलिनी और हिना सभी परम्परागत अर्थ में भ्रष्टता की चरमसीमा पर हैं। इन आधुनिक पंचकन्याओं ने सरकार, शासन और समाज को भ्रष्ट किया है अथवा इन संस्थाओं ने उन्हें नष्ट किया है, कहना कठिन है। ये उच्च अभिजात और सभ्य-शिक्षित तथा प्रतिष्ठितों के महान प्रतिष्ठानों से जुड़ी सुदर्शनायें लगता है नारी नहीं, योनिमात्र हैं; वासना-बलात्कार की प्रतिमायें हैं तथा संसद, सांसद, मंत्री, बड़ी-बड़ी योजनाओं, प्रोजेक्ट और राष्ट्रीय नीतियों की सारी गंदगी की मोरियां हैं। इन छद्म वेश्याओं से बहुत महान जोहराबाई चित्रित हुई है जो खुलेआम वेश्या है। इस प्रकार पूरे तंत्र को वेश्यालय बनाकर वास्तव में लेखक ने चोट तो बहुत करारे रूप में किया है किंतु इसकी अति जिस चटखारेपन के साथ उभरी है उसके आगे कृति का मूल व्यंग्यार्थ कुछ दब जाता है।

फ्लैप पर घोषित किया गया है कि किताब उनके लिए है जो लड़ाई पर जा चुके हैं, लड़ाई लड़ रहे हैं और आधी शताब्दी की लड़ाई के मुआइने के रूप में

उसे प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है, किंतु लड़ाई से अधिक उसकी पृष्ठ-भूमियों के ही उभार में कथाकार रम गया है। राष्ट्रीय चरित्र के भीतर घुसे भ्रष्टाचार के वे ज़ालिम कीटाणु हैं जो इस देश के साठ करोड़ लोगों को एक-एक वियतनाम बनाने की दिशा में झोंक रहे हैं। जगत् स्वामी के आंदोलन से लेकर वेब्स्टर के प्रोजेक्ट तक, लालचंद के पेपर मिल से लेकर आर्ट इण्टर नेशनल तक सर्वत्र व्यापक भ्रष्टाचार का लाइलाज मर्ज़ धूमधाम के साथ फैला है। अमरीकी पूंजीवाद के चक्कर में सांसद ही नहीं मजदूर नेता भी पड़े हैं। पुलिस चौकी पर हमला से लेकर पुलिस-विद्रोह तक की गूंज में पूरी व्यवस्था दिग्भ्रमित है। प्रजातंत्र का प्रहरी सरूपसिंह जैसा ख़ब्ती, डरपोक, मूर्ख, स्वार्थी और नपुंसक पत्रकार बना है। सुविधाजीवी, सड़े, भ्रष्ट और लिजलिजे मंत्रिमंडल के चेहरे समूचे देश के विश्वास और आत्मबल को ध्वस्त कर रहे हैं। मारे क्षोभ, कड़वाहट और तिलमिलाहट के संवेदनशील बुद्धिजीवी क्या आश्चर्य कि हंसने-हंसाने की विषाक्त विदूषक मुद्रा में दृष्टिगोचर होने लगे ?

'मेरा नाम तेरा नाम' का शिल्प की दृष्टि से अध्ययन एक अतिरिक्त स्वाद-सुख है। इस शिल्प-स्वाद से गुज़रते 'राग-दरबारी' का स्मरण हो आना स्वाभाविक है; परंतु दोनों में कुछ अंतर है। एक तो इसमें हिंसक व्यंग्य की चोट है; दूसरे कहीं-कहीं अनावश्यक विस्तार हो गया है तथा तीसरे यह कि यह विशिष्ट-शिल्प सर्वत्र नहीं लक्षित होता है। फिर भी भाषा का बेलौस खुरदरापन, टूटा-उखड़ा, किंचित् असम्बद्ध और फक्कड़पना भरा आक्रामक रूप पाठकों को बेहद आकर्षित करता है। मुद्राराक्षस का विदग्ध किस्सागो—जो झटके-झपाटे के साथ सस्पेंस का सृजन करने में भी दक्ष है। वह जब भी मौका आता है, सामान्य को असामान्य बनाकर पेश करने में नहीं चूकता है। इस असामान्य सृजन के लिए वह नये-नये मुहावरे, मिथक, अप्रस्तुत और प्रतीकों की तलाश करता है। ये प्रतीक कभी-कभी हिंसक-क्रांति का बिम्ब लिए होते हैं तो कभी-कभी व्यवस्था की अर्थहीनता को द्योतित करते होते हैं। व्यवस्था की अर्थहीनता को वह प्रायः मेढ़क, कछुआ, छिपकली, खटमल और कौआ आदि के अप्रस्तुतों अथवा बिम्बों के साथ जोड़कर संवेदित करता है। उसने बापूभाई महात्मा जगत्स्वामी और विरोधक नज़रबंदी कानून आदि जैसे शब्दों में राष्ट्रीय स्तर की संज्ञाओं और घटनाओं को उठाया है। प्रधानमंत्री, मंत्री, राष्ट्रपति और संसद आदि के रूप में सम्पूर्ण व्यवस्था को ही एक साथ उठा लेने में यद्यपि कथाकार काफी हद तक उलझ गया है तथापि अपने विध्वंस वाले पक्ष पर एड़ जमाये हास्य-व्यंग्य का डंडा भांजते प्रतिपक्ष की खिल्ली उड़ाते कृति के आदि से अन्त तक वह काफी चौकस दृष्टिगोचर होता है।

'मेरा नाम तेरा नाम', ले० मुद्राराक्षस, प्र० साहित्य रत्नालय, ३०/५० गिलिस बाजार, कानपुर-१

मगर

एस० के० पोट्टेक्काट्ट

परम पवित्र काशी !

मोक्षदायिनी गंगाजी।

भारत के विभिन्न स्थानों से आनेवाले हजारों भक्त हिंदू तीर्थयात्री।

भगवद् कीर्तन, भजन-मण्डलियों का वाद्य-संगीत और 'हरहर महादेव' की पुकारें वातावरण में गूंज रही हैं।

पूर्व शिखा, जनेऊ, तोंद, धोती और तिलक से युक्त पंडे गंगा के किनारे सीढ़ियों पर खास स्थानों पर बड़े छात्तों के नीचे अड्डा जमाए हुए हैं।

गंगा में सुबह का दृश्य अद्भुत है। किनारे के सैकड़ों मन्दिरों में सभी देवी-देवताओं को प्रतिष्ठित किया गया है। उन्हें पूजा, कीर्तन और भोजन चाहिए।

राजा घाट से वारुणी संगम तक लंबे असी घाट हैं, जिनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि ये पितरों को परलोक ले जानेवाले जादुई पुल हैं।

गंगा माई पापनाशिनी की तरह लाशखानेवाली भी है।

गंगा हृदम् पाताल तक गहरा फैला हुआ है। तीन-चार मील के घेरे में मृत हिन्दुओं की लाशें गंगा को भेंट की जाती हैं। अमीरों की लाशें हरिश्चन्द्र घाट या मणिकर्णिका घाट में ले जाकर जलाई जातीं। राख गंगा में बहा दी जाती। जो गरीब, लाश जलाने की महंगी लकड़ी खरीद न पाते, वे लाश को गले, छाती और पैरों पर पत्थर बांधकर गंगा के मध्य में ले जाते और वहीं डुबो देते। अनादिकाल से गंगा में ऐसे डुबोयी गयी करोड़ों लाशों में एक भी ऊपर उठी नहीं है। उन्हें क्या होना है? लोगों का विश्वास है कि वे पाताल गंगा के मकर मत्स्यों और मगरों का बलि पिण्ड हो जाती हैं।

'राम-नाम सत् है'—सफेद कपड़ों से ओढ़ी लाश ढोये लोग गंगा की ओर बढ़ रहे हैं।

तमिलनाडु से वटिवेलु मुदलियार और परिवार तीर्थाटन करने काशी पहुंच गए।

उस दल में मुदलियार, उनकी धर्मपत्नी, बेटी रत्नाम्बाल, दामाद राज-

गोपाल और दो सेवक थे। मुदलियार की इकलौती बेटी है रत्नाम्बाल। उसकी शादी हुए अभी छः ही महीने हुए हैं। पति राजगोपाल बी० ए० मिल-मालिक है। चूंकि मुदलियार के कोई बेटा नहीं था, अतः दामाद के साथ वे काशी को निकले।

वे अघोरनाथ शास्त्री नामक पंडा के मठ में पहुंचे। शास्त्रीजी ने अपने मठ का एक हिस्सा विशिष्ट मेहमानों के लिए खाली कर दिया था। भोजन का प्रबंध भी किया था। काशी में उनके सारे कर्मों और पूजाओं का ठेका भी अघोरनाथजी ने ही लिया था यह बताने की जरूरत नहीं। मुदलियार अमीर थे, काशी में सभी पुण्यकर्म धूम-धाम से करने का उन्होंने निश्चय किया। वह शास्त्रीजी के उपदेश और निर्देश सर आंखों पर लेते थे।

शास्त्री के मठ से गंगा-तट पर दशाश्वमेध घाट तक सब जुलूस निकालकर गए। नादस्वरम् और ढोल-वादकों सहित। जुलूस को भव्य बनाने एक बंगाली, भजन मण्डली को किराये पर लिया था। 'मैं ही इस मण्डली का नायक हूं।' यह दिखाने गले पर फूल-माला पहने मुदलियारजी सबके आगे-आगे जा रहे थे। रेशमी धोती और जरीदार दुपट्टा पहनकर दूल्हे के वेश में राजगोपाल पीछे चला। कान, गले, छाती, कमर और हाथ-पैर में कुल मिलाकर मन-भर सोने के गहने पहनी हुई रत्नाम्बाल बीच से होकर जा रही थी, जो सचमुच एक विशिष्ट हृदय था। जुलूस में हाथी की जो कमी थी, वह मुदलीयार की पत्नी ने पूरी की।

बगल में दूर्वादल और हाथ में चांदी का लोटा लिए हुए, तोंद और जनेऊ का प्रदर्शन करके हिल-डुलकर चले जा रहे थे पुरोहिताचार्य अघोरनाथ शास्त्री। पूजा-सामग्रियों की गांठ लिए उनके पीछे असिस्टेण्ट पंडा देवानन्दजी जा रहे हैं। बीच-बीच में शंख बजाते हुए कोई जटाधारी संन्यासी अपनी तरफ से जुलूस का पीछा कर रहा था।

जुलूस दशाश्वमेध पहुंचा।

उस रोज गंगा-तट पर भीड़ बहुत बड़ी थी क्योंकि अमावस्या के दिन पितर पूजा कर्मों को अधिक फल मिलता है।

एक मील तक फैली हुई गंगा की छाती से बड़ी-छोटी नावें इधर-उधर जा रही थीं। कुछ नावों में माल भरे थे तो कुछ में लोग। दूसरी तरफ रामपुर के लिए नावें चली जा रही थीं।

गंगा की लहरें सुबह की किरणों में चमकने लगीं।

'गंगा माई की जय!'

'हर हर महादेव!'

'काशी विश्वनाथ की जय!''

'जाम्बुद्वीपे···भारतवर्षे···'

अघोर शास्त्री ने वेदमंत्र कहकर बलि-कर्म शुरू किया। सबसे पहले गंगा माई की बलि। घर के प्रधान वटिवेलु मुदलियार को पानी में खड़ा किया। जटाधारी संन्यासी ने जोर-से शंख बजाकर गंगा माई को जगाया।

गंगा-पूजा के बाद दूसरी बलियां भी यथाविधि चढ़ायी गयीं। फिर मुदलियार की धर्मपत्नी से वह सब कराया गया।

फिर राजगोपाल की बारी थी।

राजगोपाल के बाद रत्नाम्बाल को तैयार किया। गंगा में चार सीढ़ियों के नीचे कमर तक पानी में उसे खड़ा किया। उसके हाथ में चावल और फूल देकर आंखें बन्द करके मंत्र जपने को कहा।

शास्त्रीजी ने मंत्र जपे।

जटाधारी ने जोर से कई बार शंख बजाया...

इतने में रत्नाम्बाल अचानक पानी में डूब कर गंगा की गहराई में खिंच गयी।

राजगोपाल ने यह समझकर कि, पत्नी फिसल गयी है, अपना हाथ बढ़ा दिया।

रत्नाम्बाल फिर ऊपर नहीं उठी। उत्कन्ठा के क्षण...रत्नाम्बाल की साड़ी का आंचल या सिर के बाल दिखाई न दिए।

"मां!" राजगोपाल चीखते हुए पानी में कूदने को हुआ कि शंखवाले संन्यासी ने उसे रोका।

अघोरनाथ शास्त्री ने ज़मीन पर नदी के अभिमुख होकर दण्ड नमस्कार किया और प्रार्थना की 'जय-जय मगरदेव!'

ऊपर की सीढ़ियों पर माता-पिता वेश बदल रहे थे। वे कुछ समझ नहीं पाए। घबराए हुए दोनों नीचे दौड़ आए। बेटी गायब!

चीख-मार और होहल्ला मचा। "हाय राम! कोई दौड़ आए। बेटी की तलाश करे।"

पाताल तक नदी में कौन डुबकी लगाकर तलाश करेगा? डूबकर तलाश करने से फायदा क्या? रत्नाम्बाल को मगर ले गया है!

जहां रत्नाम्बाल खड़ी थी, वहां कीचड़ से भरा था। छोटी हिलौरों में फूल और दूर्वादल नाच रहे थे।...

हां! रत्नाम्बाल को मगर ले गया। वह भी पति की आंखों के सामने!

"कोई मामूली मगर नहीं।" जटाधारी ने समझाया। "गंगा माई के बेटा है। पाताल में रहने वाले मगर देवजी। मगरदेव बहुत कम ही ऊपर उठते हैं। उनका आगमन दुनिया के लिए भलाई होगा। नर बलि देकर पिण्ड छुड़ाने वालों के घर में सब पितरों को मोक्ष मिलेगा। भविष्य में भी यही होगा। पंडाजी को भी यह

एक वरदान है।···

जय जय मगरदेव !

उसी रात को।

बनारस में वेश्यालयों का केन्द्र है दाल मण्डी, वहां की एक छोटी गली के पीछेवाला पुराना मकान। उसके बन्द दरवाजे पर अघोरनाथ शास्त्री ने आकर दस्तक दिया।

"कौन है ?" अन्दर से गर्जन आया।

"मैं हूं। पंडित अघोरनाथ।" अन्दर खामोशी। फिर किसी ने कहा, "ठीक है।"

बड़ी मूंछोंवाला एक काला अधेड़ आदमी सामने आया। उसके गले में घंटी थी।

"जयराम रामसिंह !" शास्त्री ने अभिवादन किया। "जयराम।" प्रत्या-भिवादन थोड़ा रूखा था।

दरवाज़ा फिर बन्द हो गया।

कमरे के बीच मिट्टी का दिया जला रखा था। उस प्रकाश में शास्त्री ने वहां बैठे तीनों को देखा और पहचाना।

एक टूटी-फूटी चारपाई में कोई युवक बैठा देशी शराब पी रहा था। उसके पास मेज पर एक नकली जटा और शंख रखा था। 'शंखवाला···'

सिर मुण्डाए, भाल पर शूलाकाट में चन्दन लगाए एक काला नाटा बूढ़ा गांज़ा पीते हुए चारपाई पर बैठा था। 'स्वामीजी···'

तीसरा आदमी भीम जैसा है। कुरूप। मुंह में कुल्हाड़ी जैसे दांत अलग-अलग खड़े हैं। वह गूंगा था जो कि एक कोने में आंखें घूरता बैठा था। 'मनुष्य पशु···'

शास्त्री शंख वाले की चारपाई पर बैठे।

कोई कुछ बोलता नहीं।

"पूंजी तो जरा दिखाओ।" शास्त्रीजी ने रामसिंह की ओर ध्यान से देखा और हंस दिया।

रामसिंह ने कमरे के कोने में रखा पुराना बक्स खोला और उसमें में लाल साड़ी के टुकड़े में लपेटी 'पूंजी' खोलकर उसे मेज पर रखा।

सोने के गहने, हार, कंगन, कान की बालियां···

शास्त्रीजी ने चाव से गहने देखे। जल्दी उनका चेहरा उतर गया।

"इसमें तो सिर्फ दो जोड़े कंगन ही हैं। उस स्त्री को चार जोड़े थे···मैंने गिना था···"

किसी ने कुछ कहा नहीं।

"दो जोड़े कंगन कहां गये ?" शास्त्रीजी ने अकड़कर पूछा।

"सभी कंगन उतार नहीं सका। नाव के पास आने के पहले ही लाश को पानी में फेंकना पड़ा।" रामसिंह ने शांत भाव से उत्तर दिया।

"एकदम झूठ।" शास्त्री ने दांत पीसा।

"कान की बालियां खोलने को तो समय मिला, पर कंगन उतारने को नहीं ?'

सब चुप रहे।

"हूँ ! वह बड़ा सोने का हार कहां गया ? इसमें तो है नहीं···"शास्त्री का क्रोध बढ़ गया।

कोई कुछ नहीं बोला।

"यह धोखा है···भयंकर धोखा।" शास्त्रीजी ने मानों सबको शाप देते हुए कहा।

"कैसा धोखा···?" गांजा पीते हुए स्वामीजी ने पूछा, "ऐसा कोई नियम तो नहीं कि जो कुछ मिला हो, उसका हिसाब शास्त्रीजी को दिखाया जाय।"

"नहीं, यह हम सबको समान बांटना है।"

"ऐसा किसने कहा ?" शंखवाले का सवाल था।

"वही धर्म है।" शास्त्री ने धर्म का सहारा लिया।

"वह धर्म अपने पास रखो।" शंखवाला गिलास में शराब उड़ेलते हुए हंस दिया।

"बलि कर्मों के लिए उन तमिलवालों से अच्छी रकम वसूल नहीं की क्या ? उसका हिसाब हम लोगों ने पूछा तक नहीं। हमारे काम के लिए जो पारिश्रमिक मिला, उसमें शास्त्री का क्या हक है ?"

शास्त्रीजी कहां मानते, "मैंने ही इसका प्रबन्ध किया था। कुल संपत्ति का कम से कम एक चौथाई मुझे मिलना चाहिए।

"अरे पंडाजी !" रामसिंह ने, जो अब तक चुप था, हाथ उठाते हुए कहा, "हमें यह काम शुरू किए अब तीन साल हो गए। अभी तक किसी पंडा ने यों टेढ़ा प्रश्न मुझसे किया नहीं है। तुम्हारा तो यह पहला सौदा है, तभी ऐसा लोभ दिखाते हो।"

"बिना बुलाये शास्त्री का यहां घुस आना ही ठीक नहीं है। शास्त्री का हिस्सा तो सुविधानुसार हम उसके यहां भेज देंगे।" स्वामीजी ने जोड़ दिया।

"मेरा हिस्सा मुझे अभी इधर मिलना चाहिए।" शास्त्री ने हठ पकड़ा।

"हिस्से की बात अपने मन में रहे।" स्वामीजी ने एक लंबे भाषण की तैयारी करके चिलम दूर रखा।

"हिस्से की बात कहें तो, इस सारी संपत्ति का पचहत्तर प्रतिशत, वहां उस कोने में बैठे मगर को ही मिलना चाहिए।" स्वामीजी ने कोने में बैठे गूंगे की ओर

इशारा किया, "पर उस जानवर को सोना-पैसा कुछ नहीं चाहिए। सिर्फ औरतों की नंगी लाश चाहिए।" स्वामीजी ने मगर को घृणा से देखा। मगर ने अपने सभी विकृत दांतों को बाहर दिखाया, जब उसे लगा कि बात उसीके बारे में हो रही है।

स्वामीजी ने आगे कहा, "दूसरा हकदार रामसिंह ही है। शिकार पकड़ने और उसे लेकर पानी के नीचे से सांस दबाये पौन मील तक तैरने का प्रशिक्षण उस गूंगे को उसीने ही दिया।···तीसरा हक मेरा है क्योंकि मैंने ही लाश पर पत्थर बांधकर उसे गंगा के नीचे फेंक दिया था। इस शंखवाले को भी थोड़ा-सा हक है। आखिर, शास्त्री तुमने किया क्या ?"

"मगर देव को दण्ड नमस्कार जो किया था।" शंखवाले का तमाशा सुनकर सबको हंसी आयी।

अघोरनाथ शास्त्री प्रलंयकर शंकर के समान थर-थर कांप उठे, "मेरा हिस्सा देते हो कि नहीं। मुझे अभी जानना है।"

वह एक गर्जन था।

"अभी हम नहीं देते तो···?" रामसिंह ने निंदा के स्वर में पूछा, "शास्त्रीजी, क्या करेंगे आप ?"

शास्त्री ने दांत पीसा। दबे स्वर में उनके मुंह से निकल ही गया, "पुलिस को···"

श्मशान की सी खामोशी।

शास्त्री को थोड़ी देर बाद ही लगा कि यह अंतिम हथियार अभी उठाना ज़रूरी नहीं था। वे तोंद हिलाते हुए दरवाजे की ओर बढ़े।

रामसिंह ने मगर की ओर देखकर कुछ खास इशारा किया।

मगर ने एक ही छलांग में शास्त्री को पकड़कर नीचे पटक दिया। उसके भयानक दांत शास्त्री की छाती के अन्दर घुस गए···खून वह निकला···

अगली सुबह। "राम नाम सच है।" सफेद कपड़े में पूरी ढकी एक लाश को दो लोग ढोये जा रहे थे। "राम नाम सच है" के आध्यात्मिक आहवान दुहराते हुए वे काशी के हरिश्चन्द्र घाट पहुंचे।

गले में रूमाल बांधे, वड़ी मूंछों वाले सिर मुंडाए काले नाटे बूढ़े ने नाव को किनारे लगाया और लाश को स्वीकार किया। नाव को गंगा के मध्य में खे ले गया···लाश के गले, छाती और पैरों पर पत्थर बांधकर उसे गंगा में गड़ा दिया। नाम-नाम सच है।

रोज कितने शव यों गंगा में छोड़ दिए जाते हैं।

राम नाम सच है।

[अनुवाद : वी डी० कृष्णन नेपियार]

गोष्ठी प्रसंग

साहित्य और दलित चेतना

गत ९ अप्रैल को दिल्ली के कांस्टीदयूशन क्लब में 'संचेतना' के 'दलित साहित्य विशेषांक' का विमोचन हुआ। इस अवसर पर हिन्दी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री जैनेन्द्रकुमार तथा मराठी के समर्थ रचनाकार श्री म. ल. वराड़पांडे के सानिध्य में 'साहित्य और दलित चेतना' विषय पर एक विचार-गोष्ठी रखी गई।

डा० महीपसिंह ने दलित साहित्य के आन्दोलन की विशिष्टता को रेखांकित करते हुए कहा कि यह केवल साहित्यक आन्दोलन नहीं है बल्कि व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक चिन्ताओं को लेकर चलने वाला अपने ढंग का एकमात्र आन्दोलन है। इससे पहले भी दलित वर्ग की यातना को साहित्य में स्वर देने का कार्य हुआ है लेकिन मराठी में इस यातना को अभिव्यक्ति देने वाले साहित्यकार स्वयं दलितत्व के शिकार है, उन्होंने पीढ़ी-दर-पीढ़ी इस पीड़ा को भोगा है। संचेतना के इस अंक के माध्यम से हमने इस साहित्य की अंतर्प्रेरणा और इसमें निहित बदलाव की गहरी चेतना को हिन्दी पाठकों के सामने लाने का प्रयास किया है।

डा० वेदप्रकाश अमिताभ ने हिन्दी पाठक को मराठी साहित्य से परिचित कराने के लिए संपादक को बधाई देने के साथ-साथ यह आशंका व्यक्त की कि कहीं हम दलित साहित्य को केवल जातिगत आक्रोश तक सीमित रखकर उसकी सार्थकता को कम तो नहीं कर रहे? मराठी साहित्यकारों और हिन्दी के लेखकों की तुलना करते हुए डा० अमिताभ ने कहा कि मराठी लेखकों ने पीड़ा के इस अंगारे का ताप हथेली पर सहा है जबकि हिन्दी के लेखक उसे दूर से देखते रहे हैं।

डा० रामदरश मिश्र ने दलित साहित्य को अनुभव का एक नया आयाम बताते हुए कहा कि इस अंक की कहानियां संक्रान्त अनुभवों की कहानियां हैं। इनके केन्द्र में सवर्णों के प्रति द्वेष नहीं बल्कि उनके साथ जीने की इच्छा है। वेदना की आंच पहली बार इतनी प्रखर होकर सामने आई है।

डा० हरदयाल ने इस विशेषांक के प्रकाशन को हिन्दी में महत्वपूर्ण घटना की संज्ञा दी और इस समस्या के समाजशास्त्रीय पक्ष पर विचार करते हुए कहा कि हिन्दी भाषी क्षेत्र का हरिजन बहुत क्षुब्ध नहीं है। वह अपनी जातिगत अस्मिता को छिपाकर उच्चवर्ण में शामिल होना चाहता है। अपने वर्ण के साथ एकाकार नहीं होता।

श्रीमती तारकेश्वरी सिन्हा ने सीमित साधनों के बावजूद ऐसा अंक प्रकाशित करने पर संपादक को बधाई देते हुए साहित्य और राजनीति में निकटता स्था-

पित करने की आवश्यकता पर बल दिया। श्रीमती सिन्हा ने लेखकों से आम जनता की भाषा में साहित्य रचना करने का भी आग्रह किया।

श्री म. ल. वराड़पांडे ने दलित साहित्य का मूल्यांकन करते हुए कहा कि इससे साहित्य की परिधि व्यापक हुई है। साहित्य सृजन कुछेक विशिष्ट लोगों का अधिकार न रह कर किसी भी संवेदनशील व्यक्ति का कार्यक्षेत्र बन गया है। उसे फार्मूलों से मुक्ति मिली है।

श्री जैनेन्द्रकुमार ने अपने भाषण में 'दलित पैंथर' और 'दलित लेखक' में अंतर स्पष्ट करते हुए 'दलित लेखक' के कार्य को अधिक महत्त्वपूर्ण माना क्योंकि वह पाठक की चेतना को बहुत गहरे तक जाकर बदलता है। उन्होंने हिन्दी में भी इस प्रकार के साहित्य की आवश्यकता पर बल दिया।

(प्रस्तुति—कमलेश सचदेव)

साहित्य और टेकनोलोजी

"साहित्य और विज्ञान का विकास स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर की ओर बढ़ता रहा है। इस लिए हमारा दिमाग टेकनोलोजी के विकास से भी आगे जाएगा। यही अनिवार्यता साहित्य के साथ भी होगी। साहित्य का संबंध मानव से टूटेगा नहीं, मानव विकास की ओर बढ़ता जाएगा यानी साहित्य जानकारियों के पार जाएगा।"

उक्त विचार प्रमुख साहित्कार और विचारक श्री जैनेंद्रकुमार ने 'साहित्य और टेकनोलोजी' विषय पर आयोजित एक विचार गोष्ठी में अपने अध्यक्षीय भाषण में प्रकट किए। इसका आयोजन भारतीय लेखक संगठन की ओर से दिल्ली में किया गया। यह दो दिवसीय संगोष्ठी के प्रथम सत्र के रूप में आयोजित की गयी थी।

उल्लेखनीय है कि 'साहित्य और टेकनोलोजी' जैसे महत्वपूर्ण विषय पर हिंदी जगत में संभवतः पहली बार ऐसी विचारोत्तेजक गोष्ठी का आयोजन किया गया जो अवश्य ही चुनौतीपूर्ण विषय था और वक्ताओं ने शुरू से अंत तक महत्व पूर्ण पहलुओं पर विचार प्रकट किए।

विषय को प्रस्तुत करते हुए डॉ॰नरेंद्रमोहन ने कहा कि टेकनोलोजी ने हमारे जीवन को विभिन्न क्षेत्रों में बहुत हद तक प्रभावित किया है जिससे बाहरी जीवन ही नहीं, भीतरी जीवन भी अछूता नहीं रहा है। यानी अनुभव, संवेदना और सोच पर भी उसकी गहरी छाप पड़ी है। इससे एक ओर समाज का हित हुआ है तो दूसरी ओर मानवीय संकट को गहराने वाली अमानवीकरण की प्रक्रिया के बीच से मनुष्य गुजर रहा है। उनकी मान्यता थी कि टेकनोलोजी के विकास के साथ-

साथ सांस्कृतिक टकराव होता है। यह भी ठीक है कि साहित्य में यथार्थ की पहचान हो सके लेकिन यह सच है कि इसके प्रभाव से साहित्य में संवेदना का रोमानी ढर्रा टूट गया है। उसने हमारे स्वप्न और हमारी संवेदनाएं हमसे छीन ली हैं। इसीलिए आज साहित्य यथार्थ के टकराव से प्रकट हो रहा है।

श्री देवेंद्र इस्सर ने अपने शोधपूर्ण आलेख में सबसे पहले यह प्रश्न उठाया कि टेकनोलोजी का मसला क्या है और मनुष्य के महत्व को प्रतिपादित किया। संस्कृति के साथ टेकनोलोजी के संबंध को स्थापित करते हुए उन्होंने टेकनोलोजी के क्षेत्र में तीन क्रांतियों का संदर्भ दिया जिससे मनुष्य जीवन में आमूल परिवर्तन होता रहा है। आज टेकनोलोजी का विकास भयावह भविष्य की दिशा में अग्रसर है जिस के लिए अलगाव, अकेलेपन और अजनबीपन की प्रक्रिया शुरू हो चुकी है।

चर्चा-प्रवर्तन करते हुए डॉ० यश गुलाटी ने कहा कि टेकनोलोजी विचारों का ठोस रूप है। इससे खतरा यह है कि मनुष्य की सोच नष्ट हो जाएगी। वह संवेदनशून्य हो जाएगा और आशा यह है कि उसकी कार्यक्षमता में वृद्धि होगी। उनके सामने कई प्रश्न थे—क्या टेकनोलोजी के विकास से साथ साथ मनुष्य के परिवेश में कोई अंतर आता है? क्या यंत्र मानव साहित्य का सृजन कर सकेगा?

डॉ. महीपसिंह का विचार था कि टेकनोलोजी के माध्यम से व्यक्ति बहुत बड़ी छलांग लगाना चाहता है और इससे यह संभव भी हो जाता है। इसमें मुख्य चिंता सोच के स्तर पर है। पश्चिम की चिंता यह है कि मनुष्य सोचना बंद कर देगा, क्योंकि वहां टेकनोलोजी के क्षेत्र में काफी प्रगति हो चुकी है। भारत की चिंता यह है कि मनुष्य सोचना शुरू ही न कर सकेगा। इसका आधार यह है कि टेकनोलोजी के बलपर पश्चिमी देशों का प्रभाव इतना बढ़ सकता है कि हमारा देश चिंतन की प्रारंभिक प्रक्रिया में ही इससे मुक्त हो जाएगा।

श्री सुधीश पचौरी का कहना था कि टेकनोलोजी न समाज से स्वतंत्र तंत्र है और न हो सकती है। मुख्यत: इसके दो पक्ष हैं—स्वत्वाधिकारी और उपभोक्ता। दर असल उसका मालिक उसका उपयोग अपने ढंग से अपने हितों के लिए करना चाहता है।

श्री अजित कुमार ने कहा कि आज इस बात की और अधिक आवश्यकता महसूस की जा रही है कि मनुष्य मनुष्य के साथ जुड़े। इसका कारण यह है कि टेकनोलोजी के विकास के साथ साथ मनुष्य का अकेलापन और अधिकबढ़ गया है।

डॉ. शैलेश जैदी ने दूसरा मुद्दा उठाया। उनकी मान्यता थी कि साहित्य जीवन का विस्तार ही है और जब टेकनोलोजी हमारे जीवन का अंग बन गई है तो उसे साहित्य से वहिष्कृत नहीं किया जा सकता।

डॉ० विनय ने अपनी मान्यता प्रकट की कि टेकनोलोजी के प्रतिसंसार खड़ा किया है। टेकनोलोजी का रिश्ता सामान्य जनता के साथ जुड़ना चाहिए। पर वह शासक के साथ जुड़ी रही है।

श्री जगदीश चतुर्वेदी के विचार में टेकनोलोजी ने हमें जागरूकता प्रदान की और हमें आधुनिक बनाया यानी हमारा अद्‌यतन विकास हुआ।

डॉ० हरदयाल के अनुसार इससे जीवन और साहित्य दोनों ही प्रभावित हुए हैं और यह मनुष्य के हाथ में दुधारू तलवार की तरह है। डॉ० बुद्धसेन नीहार ने टेकनोलोजी को संस्कृति के साथ संबद्ध कर दिया और कहा कि आज हमारी संस्कृति की समृद्धि टेकनोलोजी पर ही आधारित है। इसने मानव संस्कृति की कल्पना को साकार बनाया है। डॉ० सुखवीर सिंह ने कहा कि टेकनोलाजी से जानकारी बढ़ती है। डॉ. बलदेव वंशी के अनुसार हमारे साहित्य के पास भविष्य की दृष्टि नहीं है और इसका परिणाम यह हुआ है कि हमारा साहित्य पीछे चल रहा है जो साहित्य की चिंता है।

दूसरे दिन इस दो दिवसीय संगोष्ठी का दूसरा सत्र आयोजित हुआ जो काव्य संध्या के रूप में था। इसकी अध्यक्षता प्रमुख कवि श्री गिरिजा कुमार माथुर ने की और संचालन डॉ. बलदेव वंशी ने किया। इसमें अध्यक्ष सहित ४३ कवियों/कवयित्रियों ने अपनी पसंद की दो-दो कविताएं सुनाईं। अधिकांश कविताएं समसामयिक संदर्भों में थीं।

यह संगोष्ठी १०-११ अप्रैल को विट्‌ठलभाई पटेल हाउस, नई दिल्ली में आयोजित की गई थी। इसमें दिल्ली के ही नहीं, चंडीगढ़, अलीगढ़, करनाल, उज्जैन, जयपुर आदि शहरों के प्रतिनिधियों ने भी सक्रिय भाग लिया। अंत में भारतीय लेखक संगठन के उपाध्यक्ष डॉ० महीपसिंह ने धन्यवाद ज्ञापन किया।

(प्रस्तुति—डॉ० रत्नलाल शर्मा)

पटना भी अब मुखर हो रहा है

पटना ने महानगर न होते हुए भी इधर साहित्यिक-सांस्कृतिक तन्द्रा को झकझोरने की दिशा में कुछ करते रहने की जिज्ञासा दिखलाई है और इसका ही प्रमाण है कि कहीं कोई कवि-सम्मेलन आयोजित है, तो कहीं नाट्‌य-समारोह, तो कहीं सांस्कृतिक जमाव। दो-तीन वर्षों में इस नई जागृति के लिए देश की किसी भी राजधानी के सामने पटना अब निरीह नहीं है।

और उसी स्वर की व्याप्ति-बोध है नव-वर्ष के मंगलमय वेला में नगर की और देश की भी प्रमुख साहित्यिक-प्रकाशन संस्था 'पारिजात-प्रकाशन' द्वारा पांच अभिनव प्रकाशनों का विमोचन, एक प्रबुद्ध और अनौपचारिक माहौल में नगर के प्रमुख साहित्यकारों और संवेदनशील व्यक्तियों की उपस्थिति में।

श्री जितेन्द्रसिंह ने समारोह प्रारंभ किया। नये वर्ष की शुभकामनाओं को अबीर के समान बिखेरते हुए तब अध्यक्ष के आसन पर विराजमान हुए कवि-समीक्षक डा० कुमार विमल और उद्घोषणा का भार संभाला सुश्री अनुराधा शंकर और कुमार रंजन ने।

सबसे पहले 'हिन्दी ही क्यों तथा अन्य निबंध', (डा० प्रभाकर माचवे) जिसे भागलपुर विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलपति श्री देवेन्द्र प्रसादसिंह जी ने विमोचित किया तथा उसी अनुरूप फिर सत्यनारायण की प्रथम काव्य-कृति 'तुम ना नहीं कर सकते' को श्रीमती प्रकाशवती नारायण ने, 'कितना क्या अनकहा' को श्री पारसनाथ सिंह ने, 'बेजुबान' को श्री राधाकृष्ण प्रसाद ने तथा 'पांच उपन्यासिकाएं तथा पांच लेखिकाएं' को श्री उदयराज सिंह ने।

प्रकाशन की दृष्टि से पारिजात-प्रकाशन के इन पांचों पुस्तकों का देश के साहित्यिक परिवेश में विशेष महत्व है।

प्रारम्भ में डा० प्रभाकर माचवे की 'हिन्दी ही क्यों', शंकर दयाल सिंह की 'कितना क्या अनकहा', राका रश्मि की 'बेजुबान', सत्यनारायण की 'तुम नानहीं कर सकते' और पांच लेखिकाएं बिन्दु सिन्हा, उषाकिरण खान, शुभदा मिश्र और ऋता शुक्ल की पांच उपन्यासिकाएं' के नव प्रकाशन की सूचना संगोष्ठी को दी गयी।

(प्रस्तुति—अजातशत्रु)

'टूटा हुआ पंख' पर गोष्ठी

युवा कहानीकार अब्दुल बिस्मिल्लाह के सद्यः प्रकाशित कहानी-संग्रह 'टूटा हुआ पंख' पर वाराणसी में एक विचार-गोष्ठी सम्पन्न हुई, जिसकी अध्यक्षता प्रख्यात समालोचक प्रो० चन्द्रबली सिंह ने की और आलेख पढ़ा श्री जगदीश नारायण श्रीवास्तव ने।

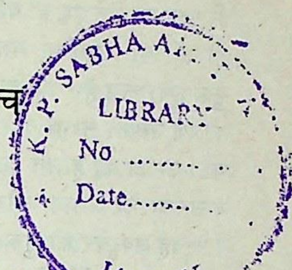
श्री जगदीश नारायण श्रीवास्तव ने अपने आलेख में बिस्मिल्लाह की कहानियों में सामान्य आदमी की संवेदनाओं की तलाश की और 'क्षयी', 'कच्ची सड़क', 'तीर्थयात्रा' आदि कहानियों के माध्यम से अपने विचार को प्रकट किया।

डॉ० कुमार पंकज ने बिस्मिल्लाह की कहानियों को 'पोएटिक ट्रुथ' के सवाल से जोड़ा।

डॉ० विश्वनाथ प्रसाद ने कहा कि बिस्मिल्लाह ने जिस प्रकार अपनी कविताओं में नये मुहावरे गढ़े हैं उसी प्रकार कहानियों में भी उन्होंने नये मुहावरों की तलाश की है। 'कहानीकार' के सम्पादक कमल गुप्त ने उनकी कहानियों को जिन्दगी का जीवंत अक्स बताया तथा क़ाज़ी मजहरुद्दीन अहमद ने उनके कथा-स्रोत से संबंधित अनेक रोचक तथ्यों का उद्घाटन किया और कहा कि बिस्मिल्लाह की कहानियां व्यवस्था के विरोध में खड़ी होकर बोलती हैं।

कहानी

बंद आसमान केबीच



सलिल सुधाकर

कंकरीले ढलान से उतर कर हम उस खड्ड के समीप आ गयें जिसके बगल में वही चिरपरिचित सीढ़ियां थीं जो ऊपर पानी-टंकी तक पहुंचने के लिए बनायी गयी थीं। सांझ के उतरते न उतरते हमारा यहां आ बैठना एक तरह से नियम-सा बन गया था। मैंने पलटकर देखा तो सूरज का गोला उस छोर वाले आदि-वासी छात्रावास के चारों तरफ छाए जंगल में गुम हो जाने को तत्पर-सा लगा। किनारे वाले पोखर के थिर पानी में आसपास फैले पेड़ों की तरह बेतर-तीब-सी परछाइयां सिहर रही थीं और सड़क के दोनों किनारों पर आसमान की नीली पृष्ठभूमि में ऊंचे-ऊंचे ताड़-खजूर के पेड़ किसी पेंटिंग्स से दिख रहे थे। सामने ढलान के और नीचे उतरते हुए थोड़ी दूर पर मंथर गति से बहती मयूराक्षी-पार के पहाड़ी गांवों को बड़ी आसानी से देखा जा सकता था।

मेरे बैठने के साथ-साथ साजिद भी सीढ़ी का आधा हिस्सा झाड़कर बैठ गया था। सारे रास्ते खेतों की पगडंडियों पर चलते हुए वह कुछ न बोला था। 'विला' से निकल, थोड़ी दूर चलकर, मेरे एक प्रसंग छेड़ने के उत्तर में उसने मुझे अपनी निहायत ठंडी निगाहों से घूर दिया था। मैं भी चुप हो गया था। आज हम लोगों ने इस पहाड़ तक आने के लिए पक्की सड़क की जगह 'खूंटा बांध' की तरफ से खेतों का रास्ता पकड़ लिया था। इसलिए जल्दी पहुंच भी गए गये थे।

शाम से ही साजिद के चेहरे पर मौजूद यह अनावश्यक भंगिमा एवं रहन-सहन के ढंग से झलक रही लापरवाही का रहस्य सूंघता मैं उससे कुछ जरूरी बातें इस सम्बन्ध में करना चाहते हुए भी नहीं कर पा रहा था। पता नहीं किस संकोच से। आज सुबह मेरे साथ दफ्तर वह बिल्कुल ठीक-ठाक हालत में गया था। दोपहर 'लंच' के बाद वह अचानक उठा और बिना किसी से कुछ कहे सुने बाहर चला गया। उसके बाद दोपहर के अंतिम क्षणों तक वह मुझे कहीं नहीं दिखा। कर्मचारियों से मालूम हुआ, वह मैनेजर से परमिशन लेकर गया था।

दफ्तर से लौटकर जब मैं ऊपर उसके कमरे में पहुंचा तो वह कुर्सी पर कुहनी टिका कर बैठा चुपचाप खिड़की के पार छोटी पहाड़ियों की मीलों लम्बी कतार देख रहा था। कमरे की हर चीज अस्त-व्यस्त थी। मानो तुरन्त कोई वहां देर तक किसी चीज को ढूंढ़ता रहा हो। मुझे देखकर उस पर थोड़ी सी प्रति-

क्रिया हुई। वह वहां से उठकर निढाल होकर बिस्तर पर पसर गया। फिर बिस्तर पर लेटे हुए ही बोला, "दोपहर में थोड़ी सी सुस्ती और मिचली महसूस हो रही थी। इसलिए चला आया।" मुझे लगा, जैसे वह तत्काल के लिए मुझसे कुछ छुपा रहा है। क्योंकि उसके चेहरे पर बीमारों जैसी हरारत या थकान के कारण उत्पन्न लक्षण नहीं थे। बल्कि वह बहुत ही उद्विग्न और उदास दिख रहा था। उसकी यह हालत देख मुझे भी चिंता हुई क्योंकि अपने घर से दूर इस शहर में उसका मेरे अलावा और कोई नहीं था।

वह अक्टूबर की शुरूआत थी जब हमने 'टिक-विला' किराये पर लिया था। पहाड़ी इलाका होने के कारण ठंडक काफी पड़ रही थी। हमने कुछ मजदूर बुलवाकर तमाम विला की सफाई शुरू करवा दी थी। पांच छः दिन के अथक परिश्रम के पश्चात् निखर आयी विला के सामने लान में हमने नर्सरी से चुन-चुनकर लाए फूलों की एक खूबसूरत-सी खेती कर डाली थी। खाना वगैरह बनाने और विला की देखरेख के लिए मैं अपने गांव से एक नौकर ले आया था जो नीचे रसोईघर के बगल वाले कमरे में रहता था। ऊपर वाले दोनों कमरे और बरामदे में साजिद ने अपना डेरा डाल रखा था। तथा नीचे वाले बाकी हिस्से को मैंने संभाल लिया था और इस प्रकार मेरे तथा साजिद के बीच की दूरियां मिटने का सिलसिला शुरू हो चुका था।

मयूराक्षी के उस पार के गांवों के घरों से सफेद धुआं उठने लगा था। लोग अब घरों में चूल्हे जला रहे थे। मैंने हल्के-से साजिद की ओर नजर डाली। वह चुपचाप सीढ़ी पर बैठा धुएं की उठ रही लकीरों को देख रहा था, जो बड़ी तेजी से ऊपर उठती आपस में लिपटती जा रही थीं। मैंने भी उस ओर देखते हुए पूछा, "कोई खत वगैरह आया है क्या ?"

"हां"। संक्षेप में वह बोला। उसकी दृष्टि धुएं के धुंधलेपन को तीर की तरह बेध रही थी। मुझे लगा, स्वर की गहराई के साथ उसका चेहरा भी इस धुंधलेपन के अंदर घुलता जा रहा था। फिर धीरे-धीरे वह अपना अस्तित्व खो बैठा था। और उसकी जगह एक दूसरा चेहरा उभर आया था। मैं पहचान नहीं पाया था यह वही साजिद है या स्मृतियों के तमाम जालों के कसाव की वेदना से वीभत्स हो गये चेहरे वाला दूसरा साजिद। अचानक उसने अपना सुनहरे फ्रेम वाला चश्मा उतारा और उसे रूमाल से पोछने लगा। छात्रावास के इर्द-गिर्द के जंगल में सूरज का गोला गायब हो गया था। लेकिन आकाश में अब भी नीलापन और क्षितिज की ओर लालिमा-सी थी। उसने शीशा साफ करने के बाद चश्मा धीरे से आंखों पर लगाया और बोला, "खत में कोई विशेष बात नहीं है। घरवालों ने लिखा है कि शादी तय हो चुकी है, अपनी सहमति दो।" कहकर वह फिर पहाड़ों के बीच बहती मयूराक्षी को देखने लगा लेकिन मेरे अन्दर घहराती ढेर सारी चीजों

के बीच से बला की खूबसूरत और मासूम शमीना का चेहरा मेरे जेहन में बार-बार आकर अंकित होने लगा था। रूबरू खड़े होकर नहीं देखने के बावजूद साजिद के कमरे में टंगी शमीना की तस्वीर उसकी खूबसूरती का बेबाक प्रमाण थी। कमरे में जब भी कोई आता उसकी नजरें पहले उसी तस्वीर पर जा अटकतीं। सोते जागते उसे देखने को विवश साजिद हर सुबह अन्य दूसरे कामों से निबटकर उस तस्वीर के पास जाता। उसके ऊपर पड़ी बासी माला हटाता और ताजी माला पहना देता। हर दिन ताजे फूलों की माला लाने की जिम्मेवारी उसने नौकर को सौंप डाली थी। उसका इस माला चढ़ाने वाली भावना से गहरा जुड़ाव व उसमें छुपा समर्पण प्रायः मुझे अजीब हैरत में डाल दिया करता। 'विला' में रहते हुए शुरू के दिनों में शमीना के खत हमेशा आते थे। उनमें क्या रहता यह जानने की उत्कंठा मुझे कभी नहीं रही थी। साजिद भी मुझे उनके विषय में कभी कुछ नहीं बतलाता था। पढ़ने के बाद केवल 'शमीना का खत है' कहकर चुप हो जाता। लेकिन खत जब घरवालों का होता तो वह निहायत ही बेरुखी के साथ उसे मेरी ओर भी बढ़ा देता, "लो देख लो, अम्मी की पांच सौ रुपयों की फरमाइश।" तब मेरे सामने एकबारगी सारी बातें स्पष्ट हो जातीं। दरअसल घरवाले साजिद को पैसा पैदा करने वाली मशीन समझते थे। बस ! साजिद की सौतेली मां के साथ उसके दो सौतेले भाई भी थे। उनमें से एक उससे छोटा था। दरोगाई से बहुत पहले रिटायर हुए, महज एक सौ दस रुपये पेंशन पाने वाले अब्बा को विरासत में एक अच्छा खासा मकान तो जरूर मिल गया था, पर खेत वगैरह हिस्से में बहुत कम आये थे। बाल-बच्चेदार बड़े भाई ने नौकरी की दुनिया से हताश हो घर की महाराती खेती सम्भाल रखी थी। गांव के हाई स्कूल में पढ़ते छोटे भाई को कापी, किताब, स्कूल फीस आदि के लिए तथा अब्बा को अपनी दवा के लिए अक्सर रुपयों की जरूरत पड़ती। जिसे घर की खेती तो नहीं, हां साजिद पूरा जरूर करता। इसके अलावा भी घर के अन्न-पानी को छोड़कर बाकी सारे खर्च के बोझ को वही ढोता। अपनी सौतेली अम्मी के रुख से भी वह बचपन से ही आहत होता आया था, लेकिन उसने उनका प्रतिकार कभी नहीं किया था। यहां तक उनकी इज्जत में वह सर उठाने की जुर्रत भी नहीं करता। किन्तु इन सबों के बावजूद अम्मी उससे खार खाये रहतीं। एक बार साजिद के द्वारा शमीना को यहां ले आने के सवाल पर अम्मी बुरी तरह जल उठी थीं, "अरे वाह ! कैसा बेशर्म हो गया है। आज बात शहर ले जाने की है, कल कहेगा, हमारा हिस्सा अलग कर दो, मैं शामिल नहीं रह सकता।" सुनकर साजिद चुप रह गया था। केवल अब्बा के लिए। उनके दिल को दुखाना वह नहीं चाहता था। वैसे वह जानता था अम्मी साजिद की कमजोर नब्ज शमीना को अपने पास हथियार के रूप में रखना चाहती थीं। अब्बा की जगह अपना हुकूमत चलाने वाली अम्मी का आदेश टालना भी सम्भव न था।

उन्हींके हुक्म से साजिद को अपनी तनखाह का आधा हिस्सा हर महीने घर भेजना पड़ता। वरना, वह जानता था कि उसकी अनुपस्थिति में रुपये नहीं मिलने पर क्रुद्ध अम्मी की नाराजगी का बेतरह शिकार शमीना ही होगी। वैसे घर में भाभी को अम्मी कभी तकलीफ नहीं देती थीं। वह अपने ही बाल-बच्चों की देख-भाल में व्यस्त रहतीं। काम चाहे घर का कोई हो सब शमीना के जिम्मे था। साजिद ने भी मुझे एक बार बताया था कि, अम्मी हर महीने मिलने वाली रकम के बन्द हो जाने के डर से शमीना को यहां नहीं भेजतीं। वह प्रायः शमीना पर गुजरने वाली तकलीफों की कल्पना कर खोया-खोया-सा रहता। कभी-कभी कहता, "पता नहीं, शमीना जैसी पढ़ी-लिखी तरक्कीयाफ्ता लड़की उस घर के निहायत दकियानूसी फूहड़पन के बीच कैसे सांस लेती होगी।" फिर वह ग्लानि से भर उठता, "लानत है मेरी जिन्दगी पर, जो मैं उसे एक अच्छा-सा माहौल भी न दे सका।"

वैसे वह बहुत खुशमिजाज आदमी था। मुझे याद है, कितनी दफा हम दोनों गर्मियों में शाम से लेकर नौ-दस बजे रात तक इस जगह पर बैठे रहते। अंधेरा होते ही सामने की दोनों पहाड़ियों के कालेपन के बीच से दूध की तरह उजला चांद निकल आता। साफ सुथरे आकाश में बादल के टुकड़े तैरते रहते। पहाड़ पर की ठंडी हवा बहती। और नीचे छलछलाता मयूराक्षी का पानी। उन वक्तों में साजिद काफी देर-देर तक विभिन्न विषयों पर धाराप्रवाह बोलता, शायरी करता, अपनी लिखी गजलें सुनाता और मैं उसका एक मात्र श्रोता उसकी हर बात में सहमति प्रकट करता सुनता चला जाता। उसके पास स्वरचित ढेर सारी कविताओं एवं गजलों का संग्रह था, जिन्हें वह जब-तब याद कर गुनगुनाया करता। लेकिन उसकी इस मस्ती का दौर अधिक दिनों तक नहीं चल सका।

उस बार अचानक तार पाकर, पच्चीस दिनों की छुट्टी ले जब वह गांव गया तो डेढ़ महीने के बाद लौटा था। पम्मी भी साथ में थी। और साथ में वह शमीना की मौत की खबर लाया था। इसके बाद पम्मी को हमने 'माउंट-कारमेल' के बोर्डिंग में दाखिल करा दिया था। बीच-बीच में या सप्ताह के अन्त में मैं और साजिद उससे मिल आते।

शमीना की मौत क्यों हुई? इसके जवाब में प्राप्त, अम्मी की जानबूझकर लापरवाही एवं शमीना के रोग की वीभत्सता की उपेक्षा तथा इसकी खबर साजिद को न तो खुद देना और न ही शमीना को देने देना, इस डर से कि कहीं साजिद शमीना को अपने साथ न ले जाये आदि ऐसी तमाम बातें थीं, जिनके लिए शमीना की मौत के बाद उलझना साजिद बेमानी समझता था। इसलिए अपनी पांच वर्ष की पम्मी को, जिसे शमीना उसके हवाले छोड़ गयी थी, लेकर वह यहां चला आया था। हालांकि अम्मी ने काफी दबाव डाला था कि पम्मी को वहीं

छोड़ दे। लेकिन वह नहीं माना था। शमीना की मौत ने उसे जड़ से हिला दिया था। उस पर जैसे बिजली गिरी थी और वह अंदर से बाहर तक झुलस गया था। गांव से लौटने के बाद लगता, मानो वह अपना पहला व्यक्तित्व कहीं किसी उदासी के जंगल में खो आया था। बातें वह अब भी बहुत सारी करता था। लेकिन तब और अब के विषयों में काफी अन्तर आ गया था।

साजिद अभी तक चुप था। मैं भी खामोश था। उसके खत वाली बात पर मैंने अब तक कोई टीका-टिप्पणी नहीं की थी। बल्कि मैं उसके मन को ही टटोलने की कोशिश में लगा था अब तक। यद्यपि उसने खत वाली बात बहुत संयत होकर कही थी। लेकिन मुझे ऐसा लगा, जैसे उस संजीदगी में अत्यन्त पीड़ा निहित थी।

किनारे वाले पोखर में तैर रहे बतखों का शोर उठने लगा था। वह अचानक उनकी ओर देखता हुआ बोला, "मैं सोचता हूं, कल पम्मी से जाकर बोर्डिंग में मिल आऊं। बहुत दिन हो गये देखे उसे।" मैंने घूमकर चश्मे के पार उसकी आंखों में झांका। जैसे पम्मी की मासूमियत वहां आकर झलक रही है। और उसका निश्छल बिंब उसकी आंखों में बार-बार कांप रहा है।

दो-ढाई साल पहले साजिद मुझे पतझड़ में पास-पड़ोस और पहाड़ पर के नंगे होते जा रहे पेड़ों के बीच में बसे अपने गांव ले गया था। कुछ दिनों की छुट्टी में। पम्मी को हमने वहीं बोर्डिंग में छोड़ दिया था। साजिद के दुमंजिले घर की छतें रानीगंज वाली खपरैल की बनी थीं। दीवारें पक्की थीं। घर के अगल-बगल मुसलमानों के और भी घर थे। सामने कुछ दूर जाकर आम-लीची के पेड़ों का बहुत घना जंगल था. जिसकी दूरी तीन फर्लांग से कम नहीं थी। मेरा और साजिद का बिस्तर ऊपर छत वाले कमरे में ही लगाया गया था। रात हमारी अक्सर बातों में गुजरती। परिणामस्वरूप सुबह हम देर तक बेखबर सोये रहते। दिन-भर नाश्ता करने, खाना खाने, ताश खेलने के सिवाय और वहां कोई काम नहीं था। दफ्तर की व्यस्त नियमितता से अलग हटकर कुछ समय आराम से गुजारने की योजना मैंने ही बनायी थी। ताकि इस दरम्यान हम काफी हल्के होकर अपने को तरोताजा महसूस करने लगें। यह पुनर्जीवन की प्रक्रिया मैंने साजिद के लिए सोची थी जिस पर मानसिक उलझन एवं परेशानियों का बोझ कुछ ज्यादा ही लदा रहता।

उस दिन सुबह जरा जल्दी नींद खुल गयी। देखा मुझसे भी देर से जागने वाला साजिद पहले से ही उठकर बरामदे में कुर्सी निकालकर बैठा हुआ है। छत के बरामदे पर बैठकर चाय पीते वक्त मैंने देखा उसकी आंखों के नीचे के गड्ढे स्याह पड़ गये हैं और पोपटों में थोड़ी सूजन भी है। लगा, जैसे वह रात-

भर सोया नहीं है। और कुछ देर पहले तक रोता रहा है। लेकिन चाहकर भी मैंने इन सबों का कारण नहीं पूछा। जानता था कि सहानुभूति पाते ही उसके धीरज का बांध टूट जायेगा। मैंने उसे बिल्कुल नहीं छेड़ा। आकाश में हल्के सफेद बादलों के गुच्छे रह-रहकर अपनी शक्लें बदल रहे थे। मैं उनके बदलते चेहरों के बीच काफी देर तक अपना वह अजनबीपन टटोलता रहा, जिसकी मोर्चाबन्दी मैंने साजिद के खिलाफ कर डाली थी, उसकी खामोशी को अपनी चुप्पी के साथ घूंट-घूंट पीते हुए। काफी देर चुप रह, स्वयं में उलझता हुआ वह बोला, "जानते हो, रात मैंने शमीना को सपने में देखा था।" गहरी उदासी एवं पश्चाताप के भंवर में फंसी उसकी आवाज में एक दर्द-भरा कंपन था। वह बोल रहा था, "मैंने पम्मी को वहां अकेले छोड़कर उस नन्ही-सी जान पर जुल्म किया है। वह आखिर शमीना की अंतिम निशानी है। शमीना उसके बारे में पूछ रही थी। इसलिए मैं रात-भर सो न सका।" और फिर इतना कहते-कहते उसका चेहरा कातर हो उठा था। उस दिन पूरे आकाश की नीलिमा मुझे भी बहुत फीकी और नीरस-सी लगती रही थी। मैंने बरामदे पर से बेंत की कुर्सी खींच ली थी। और दिर-भर वहीं बैठा पता नहीं विचारों के किन-किन सतरों में डूबता-उतराता रहा था। मेरे अन्दर जो कुछ उपजा था वह साजिद के लिये था या शमीना के लिये यह स्वयं मैं निश्चय नहीं कर पा रहा था। उन दोनों के हालातों को उनके अपने-अपने चश्में से देखते हुये मेरे अन्दर एक विचित्र प्रकार की विरक्ति भरती जा रही है, यह मैं पूरे दिन बड़ी ही शिद्दत के साथ महसूसता रहा था।

खिड़की के पार गांव का मंदिर और उसके बगल वाला कुआं दिख रहा था। मंदिर के बगल वाले रास्ते से आगे बढ़कर आठ-दस मिट्टी के मकानों की कतारें थीं। और उन सबों के पार बगीचा शुरू था। असल में साजिद का मकान गांव के सबसे अंतिम छोर पर था। इसलिए इस छत पर बैठ जाने के बाद सामने दूर-दूर तक चीजें बड़ी आसानी से दिखाई देती थीं। मंदिर के पछियारे तरफ वाले ढलान पर दो-तीन लम्बे, नंगे हो गये नीम और बरगद के पेड़ और उनके नीचे ही चर रहे भेड़ों के झुंड बहुत अच्छे लग रहे थे। लेकिन कई बार चाहकर भी मैं उस दृश्य में नहीं डूब सका। शायद अब मैं पहले की तरह उत्साहित नहीं था। बल्कि अंदर से बुझ गया था, बिल्कुल साजिद की तरह।

उस दिन शाम को अचानक वह मेरे पास आया और बोला, "चल, आज तुझे एक जगह दिखाता हूं।" मैंने देखा दिन-भर में उसका चेहरा पीला-सा हो गया था। राह में चलते-चलते वह बोला, "इतने दिन तक हम यहां साथ घूमते रहे। लेकिन मैं तुम्हें वहां कभी नहीं ले गया। शायद जान-बूझकर!" कहकर जैसे वह खुद ही अपनी इस हरकत पर आश्चर्य करने लगा था। बगीचे के पार काफी लम्बी-चौड़ी चारदीवारी थी जिसे देखकर मेरे कदम ठिठक गये थे। मुझे अपने गांव की हवेली

वाला बगीचा याद आ गया था। उसकी भी घेराबदी कुछ ऐसी थी। बचपन में हम चार छः जने अक्सर स्कूल जाने के बहाने उसके अन्दर घुसकर अमरूद चुराया करते थे। इसी सिलसिले में एक बार हमारी कसकर पिटायी भी हुई थी। मेरे ठिठकते ही साजिद पीछे मुड़ा और मेरी दुविधा देख बिल्कुल सर्द हो मुस्कराया, "मेरे पीछे-पीछे आओ, यह किसी गैर की संपत्ति नहीं बल्कि कब्रिस्तान है।" कह-कर वह धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगा। लेकिन उसकी बातों से मैं थोड़ा सा विचलित हो उठा था। और मेरे होंठ अनायास ही बुदबुदा उठे थे, "कब्रिस्तान!" फिर अचानक ऐसा लगा कि अक्षरों की प्रतिलिपियां आंखों के सामने उभर गयीं और उसकी उच्चरित सम्मिलित ध्वनि प्रतिध्वनि मस्तिष्क में गूंजती हुई उस भूमिखंड के चारों ओर फैले शाख और पलास के पेड़ों से टकराती हर दिशा में फैलती चली गयी, 'कब्रिस्तान···कब्रिस्तान।' मैं सिहर गया था। उस वीरान भूखंड पर फैली अखंड निस्तब्धता में हमारे पैरों के बोझ से खड़खड़ कर उठते पलास के सूखे पत्तों की आवाज बहुत खौफनाक सी लग रही थी। चिरनिद्रा में सोयी उन आत्माओं के निर्जन क्षेत्र में हम किसी साये की भांति गुजर रहे थे। आसपास टूटे-फूटे और अस्त-व्यस्त कब्रों की भरमार थी। उनमें से कुछ ही ऐसे थे जिनकी हालत अच्छी थी। सबों के इर्द-गिर्द एवं वक्षस्थल पर सूखे झड़े पत्तों का ढेर लगा हुआ था। साजिद मुझे उन सबों के बीच से लगभग खींचते हुए एक कब्र के पास ले गया और रहस्यमय स्वर में बुदबुदाता हुआ बोला, "देख यही है वह जगह जहां हमारी मासूम शमीना सोयी हुई है!" उसकी आवाज बादलों के पार से आती-सी लग रही थी। फिर उसने कब्र की ओर इशारा करते हुए कहा, "आज सुबह भी मैं यहां आया था, केवल इससे मिलने के लिए। रात इसकी याद में बुरी तरह घुलता रहा था।" कहते हुए वह वहीं घुटनों के बल बैठ गया था। मैं स्तब्ध था। मेरी आवाज गूंगी हो गयी थी। साजिद की हालत के साथ अपने को किसी भी बिंदु पर जोड़ने की बात की कल्पना तक मैं नहीं कर पा रहा था। साजिद का ऐसा विक्षिप्त रूप मैंने पहले कभी नहीं देखा था। शमीना की मौत के बाद भी जब वह मेरे पास आया था, तो उसके होशो-हवाश इस तरह कभी गुम नहीं हुए थे। बस उसने खामोशी ओढ़ ली थी। अचानक हवा का एक झोंका हमारे बगल से अत्यंत तेजी के साथ गुजरा तो ढेर सारे पत्ते उधियाते हुए हवा में तैरने लगे। साजिद ने कब्र पर झुका हुआ अपना माथा उठाया तो मैंने ध्यान देकर देखा, उसका सारा चेहरा आंसुओं से नहाया हुआ था। आंखें उसकी अब भी बन्द थीं और वह होंठो ही होंठो में कुछ कह रहा था।

उस दिन वहां से लौटने के बाद रात में हम दोनों में से कोई नहीं सो सका था। दूसरे दिन सुबह साजिद ने बिल्कुल सामान्य होकर तत्परता से कहा था, "चलो यार, अब वापस चलते हैं, बहुत दिन हो गये पम्मी को देखे!"

उस समय भी मैंने देखा था, उसकी आंखों में पम्मी की मासूमियत का झलकता बिंब बार-बार कांप रहा था।

सांझ गहराने लगी थी। ढलान के उतराव पर बिखरे बड़े-बड़े चट्टानों एवं ऊपर टंकी तक जा रही सीढ़ियों का चेहरा अब काला दिखने लगा था। पोखर के पानी से पेड़ों की परछाइयां कब की लुप्त हो चुकी थीं। मगर अब उसमें छात्रावास के बुर्ज पर जलते बल्ब की रोशनी एक अस्त-व्यस्त लकीर बना रही थी। आकाश में बादल थे या नहीं मुझे पता नहीं चला। अंधेरा होने के कारण। पर हां, तारे जरूर कहीं-कहीं टिमटिमाने लगे थे।

साजिद इन सबसे अलग-थलग वहीं सीढ़ी पर लेट गया था। उसकी आंखें बन्द थीं। अचानक वह उठकर बोला, "चलो अंधेरा हो गया है।" उसके चेहरे पर ऊब के लक्षण थे।

मैंने भी सहमति में सिर हिला दिया।

अब हम शाख एवं पलास के पेड़ों के बीच गुजरती पगडंडी पर धीरे-धीरे चलते जा रहे थे। आज मुझे अपने बोझिल लग रहे पैरों के बीच बहुत थकान-सी महसूस हो रही थी। ऐसा क्यों, यह मैं साफ-साफ नहीं बता सकता था। पगडंडी से गुजरते हुए हम सड़क पर आ गये तो छात्रावास हमारी आंखों के सामने से ओझल हो गया। सड़क के दोनों ओर पहाड़ी खेत थे और सामने सड़क की लाइट्स की कतार शुरू हो गयी थी।

चलते-चलते मैंने उससे कहना चाहा कि जब तेरी भावनाओं को इस कदर ठेस पहुंचती है तो तू साफ इन्कार क्यों नहीं कर देता! लेकिन फिर इस संदर्भ में अपने इस विचार पर मैं खुद ही झेंप-सा गया। और खीझकर मैंने अपनी हथेलियों को एक दूसरे के ऊपर दे मारा। एक जोरदार ताली बज गयी। और तभी बगल में बैठी एक टिटिहरी ट्टि-ट्टि-ट्टि—जैसा खौफनाक शोर करती उस सन्नाटे में उड़ गयी। साजिद चौंककर उसे देखने लगा था।

मैंने सोचा शायद वह अब मुझसे पूछेगा, "तुमने ताली क्यों बजायी!"

लेकिन उस ओर थोड़ी देर तक देखते रहने के बाद वह फिर पूर्ववत् चलने लगा। हां इस दफा उसके चाल में तेजी आ गयी थी।

पिछले साल एक सुबह अचानक साजिद की अम्मी और अब्बा यहां आ पहुंचे थे। अब्बा के आने पर साजिद को थोड़ी खुशी हुई थी। उन्हीं की इच्छा से साजिद उस दिन जाकर पम्मी को बोर्डिंग से ले आया था। एक-दो दिन के लिए। लेकिन रात में नीचे मैं अपने कमरे में बैठे ऊपर उनके बीच हुई चख चख देर तक सुनता रहा था। उसकी अम्मी, अब्बा को अपने बहकावे में लाकर यह कहने आयी थीं कि 'साजिद अब दूसरी शादी कर ले, लड़की देखना उन्होंने तय कर लिया है।'

शादी के लिए उसकी अम्मी इतना जोर क्यों दे रही थीं। इसका कारण साजिद से मुझे बाद में पता लगा था। दरअसल पम्मी का दाखिला जब से साजिद ने बोर्डिंग में करा दिया था, तबसे हर महीने उसके लिए काफी रुपये स्कूल को देने पड़ते थे। और पहले जितने रुपये वह हर महीने घर भेजा करता था, उसमें अब बहुत ज्यादा कमी आ गयी थी। जिसके चलते अम्मी और भाईजान का हिसाब वहां गांव में ठीक नहीं बैठ पा रहा था। इसलिए अम्मी साजिद की शादी दुबारा कर शमीना वाली कहानी फिर से दुहराना चाहती थीं। इसके लिए उन्होंने पम्मी के नाम की भी बहुत दुहाई दी थी कि लड़की को आजकल बाहर रखकर पढ़ाना ठीक नहीं है। और वैसे भी लड़की पढ़-लिखकर क्या करेगी। अंत में तो इसे चूल्हा झोंकना ही है। इसलिए पम्मी को भी घर पर ही रहने दिया जाय। जब नयी बहू आयेगी तो संभाल लेगी!

लेकिन साजिद शमीना से जुड़ी एक-एक यादें अपने अंदर संजो के रखे हुए था। उसकी यादों के इस कारवां में कभी कोई छोटा सा व्यवधान आये यह वह सह नहीं सकता था। और जब उसे यह समझाया जा रहा हो कि शमीना से जुड़ी उसकी सारी भावनात्मक कमजोरियां, जिन्हें वह उपलब्धियों की तरह पूजता आया है, का अस्तित्व ही निरर्थक और व्यर्थ है, तब भला यह वह कैसे सहन कर सकता था—लिहाजा बिफर पड़ा था, "आप लोग क्या सोचते हैं, दुनिया में दौलत, पेट और शरीर की भूख ही सब कुछ है! इनके अलावा कुछ भी नहीं!"

कहना तो उसने उस दिन बहुत कुछ चाहा था। और केवल अम्मी सामने रहतीं तो वह सारा लिहाज भूलकर एक-एक बात चिल्ला-चिल्लाकर कहता। लेकिन अब्बा के सामने इतना सब एक ही सांस में कह जाने की हिम्मत उसके अंदर नहीं थी। इसलिए बाद में वह उनके सामने सिसकने भी लगा था, "खुदा के लिए आप लोग मुझ पर रहम कीजिए। कहीं ऐसा न हो कि आप लोगों का दबाव मुझे खुदकुशी करने के लिए मजबूर कर दे! तब मैं यही सोचकर घबराता हूं कि उस वक्त मेरी पम्मी का क्या होगा!"

उन लोगों ने उससे फिर कुछ नहीं कहा था। और सुबह चुपचाप वापस लौट गये थे। उस दिन उसे जोरों का बुखार आया था और ज्वर के ताप में वह सारी रात बड़बड़ाता रहा था। उसकी तीमारदारी तब मुझे ही करनी पड़ी थी।

हिजला पहाड़ से घूमकर आने के बाद साजिद बिना कुछ भी कहे-सुने चुपचाप ऊपर अपने कमरे में चला गया। रात का खाना उसने नौकर से ऊपर ही मंगवाकर खा लिया था।

दूसरे दिन दफ्तर की छुट्टी थी। सुबह मैं बरामदे में बैठा ऐसे ही एक पुस्तक पढ़ रहा था। इतने में ऊपर से सीढ़ियां उतरता साजिद आकर मेरे सामने

वाली कुर्सी पर बैठ गया। मैंने ध्यान भंग होते ही उसकी ओर हल्के से देखा और फिर दृष्टि सामने हिजला पहाड़ पर स्थित पानी-टंकी पर टिका दीं, जिसकी सीढ़ियों पर रोज शाम में हम जाकर बैठा करते थे।

"एक बात कहूं !" उसने मेरा ध्यान आकर्षित करते हुए कहा।

"कहो।" मैं सामान्य था।

"जब से मुझे यह खत मिला है, मैं अपने को हालातों से लड़ने में बहुत कमजोर पा रहा हूं।" कहते हुए उसका स्वर कांप गया, "ऐसा क्यों, तुम बता सकते हो।"

उसके इस गोल-मटोल सवाल पर मैंने तुरत कोई जवाब देना उचित नहीं समझा। कल शाम से मेरा मन उसके कारण स्वयं ही खिन्न रहा था, इसलिए मैंने विलम्ब कर उसे टालने के लहजे में कहा, "तुमने मुझे खत के विषय में कुछ बताया ही नहीं, सिवाय एक-दो पंक्तियों के। तो भला इतने से मैं क्या अनुमान लगा सकता हूं।"

वह शिकायत-भरी नजरों से मुझे देखने लगा, "अगर तुम यह सोचते हो कि उसमें दो पंक्तियों से अधिक मतलब की चीजें होंगी, तो कोई बात नहीं। तुम इसे पढ़ भी सकते हो।" अपनी कमीज की जेब से खत निकालकर मेरी ओर बढ़ाते हुए उसने कहा।

मैं जवाब में कुछ नहीं बोला। केवल पूर्ववत् टंकी को देखता रहा। साजिद पर मुझे खीझ होने लगी थी। उसकी इस स्थिति के सम्बंध में भला मैं क्या बता सकता था। उसकी परिस्थितियों के विषय में सोचते हुए मुझे हमेशा महसूस होता जैसे साजिद, शमीना और पम्मी के बीच एक त्रिकोणात्मक सम्बंध है जिसके बीच हस्तक्षेप करना नाहक और परिणाम शून्य है। लेकिन साजिद के कारण ही मुझे उन तीनों के संबंधों के दायरे में किसी चील की तरह चक्कर काटना पड़ता था। और किसी निष्कर्ष तक नहीं पहुंच पाने के कारण स्वयं से ही मैं बुरी तरह क्षुब्ध हो उठता था।

शमीना की मौत के पहले और बाद के साजिद में कितना फर्क आ गया था इसका अंदाज लगा पाना बहुत कठिन था। उसके घर वाले, मसलन अम्मी, अब्बा या भाईजान ने तो शायद इस विषय पर सोचने की जरूरत ही नहीं समझी थी। जिसका सबसे बड़ा सबूत यह था कि मौत के साल-भर बाद से हर महीने एक पत्र साजिद के नाम वे भेज दिया करते थे, जिसमें हर बार एक ही सलाह रहती थी, "साजिद अब दूसरी शादी कर ले। अकेला कब तक निबाहेगा !"

उनकी निगाह में किसी की मौत को भूल जाने के लिए साल के तीन सौ पैंसठ दिन बहुत ज्यादा होते हैं। लेकिन मैं हमेशा खुश होता कि साजिद कभी भी उन लोगों की इस सलाह के आगे धराशायी नहीं हुआ था। साजिद का यह निर्णयात्मक पहलू कम से कम पम्मी की जिन्दगी के लिए बहुत मायने रखता था।

"तुमने अब तक मेरे सवाल का कोई उत्तर नहीं दिया।" साजिद लगातार मुझे घूरे जा रहा था।

मैं थोड़ा हड़बड़ा-सा गया था। अचानक मेरी समझ में नहीं आया था कि वह किन सवालों के बारे में मुझसे पूछ रहा था। किन्तु मेरे अस्त-व्यस्त हो जाने पर उसने कोई विशेष ध्यान नहीं दिया और बोला, "तुम्हें खत पढ़ने की इच्छा थी न !"

"नहीं-नहीं ये बात नहीं।" मुझे उसकी बातें याद आ गई थीं। इसलिए अपने को भरसक संभालने की कोशिश मैंने की,"दरअसल मेरा कहना है कि केवल शादी वाली सलाह से तुम्हें इतना उद्विग्न होने की क्या जरूरत पड़ गयी ? इस तरह के खत तो तुम्हें बराबर मिलते रहे हैं !"

यह सुनकर लगा, जैसे वह अंदर से बल खा गया हो। लेकिन कुछ नहीं कहा। टेबल पर रखे चाय के प्याले को यों ही हाथ से धीरे-धीरे घुमाता रहा।

लॉन के बीच वाले पौधे में एक ताजा लाल गुलाब मुझे दिख रहा था। मैं उसे एकटक निहारने लगा। मुझे लगा साजिद की जिन्दगी में शमीना भी एक लाल गुलाब की तरह खिली होगी। जिसे शाम होने से पहले ही तोड़ डाला गया होगा। मैं साजिद की ओर मुड़ा, "देखो साजिद हमारी मेहनत का फल। कितना खूबसूरत गुलाब आज खिला है !"

मेरे कहने पर उसने उधर केवल एक नजर भर देख लिया और फिर प्याले को यों ही घुमाने लगा।

पम्मी को वह बोर्डिंग में रखना नहीं चाहता है—यह उसने मुझसे कई बार कहा था। उसकी उम्र अभी नन्हीं-सी थी। और अभी से वह उसे एकांतवास जैसा दंड देना नहीं चाहता था। उसकी इच्छा थी कि पम्मी उसके पास रहे। और उसके ही सामने उसकी परवरिश हो। मगर यह मुमकिन नहीं था। पम्मी की पढ़ाई के लिए इस समय बोर्डिंग की जबरदस्त आवश्यकता है, इससे वह इन्कार नहीं कर सकता था। तब फिर वह ऐसी बात क्यों कहता था, यह मेरी समझ में नहीं आया। इसलिए मैंने यों ही पूछ लिया, "अच्छा साजिद, तुम कुछ दिन पहले पम्मी को बोर्डिंग से हटाने की सोच रहे थे। उसके परिणाम के बारे में क्या तुमने कभी कुछ सोचा है ?"

मेरी बात सुनकर वह चौंक गया। फिर कुछ देर खामोश रहने के बाद बोला, "नहीं, मैंने ऐसा नहीं सोचा है।—लेकिन तुम पत्र वाली बात से उड़कर अचानक पम्मी के पास कैसे पहुंच गये ?" उसके चेहरे पर आश्चर्य के भाव थे, "लगता है तुमने पत्र के विषय पर गौर नहीं किया है। या फिर उसे भूल गये हो।"

"क्या मतलब !" मैं थोड़ा खीझ सा गया।

"यही कि इस बार उन लोगों ने सलाह नहीं भेजी है। बल्कि शादी तय कर दी है। मेरी सलाह-वलाह तो सब दिखाने के लिए है। अब बात अब्बा के इज्जत की उठ खड़ी होगी। मैं इन्कार करूंगा तो सरेआम नाक कट जायेगी। क्योंकि वे बात पक्की कर चुके हैं। हालांकि वैसे ये सारी करतूत अम्मी की ही होगी, यह तो तुम समझ ही सकते हो!"

"अरे!" छूटते ही मेरे मुंह से निकला। दरअसल मैं घबरा गया था। कल साजिद की कही बात पर मैंने वास्तव में गौर नहीं किया था। अपनी धुन में मैं इसे पहले की तरह का ही पत्र समझ रहा था। इसलिए मुझे बोलना पड़ा, "सच-मुच यार, यह तो अत्यंत आकस्मिक आक्रमण है!"

बरामदे से बाहर नीला आकाश था जहां बादल एकदम नहीं थे। फिर भी मैं चिंतित बना उधर ही देखने लगा। साजिद ने कुर्सी की पीठ पर अपना माथा टिका दिया था और छत की शहतीरों को चुपचाप घूरने लगा था।

शाम होने से थोड़ी देर पहले अपने कमरे से बाहर निकलकर मैं यूं ही सीढ़ियां चढ़ता ऊपर जा पहुंचा। सूरज डूबने में अभी काफी देर थी इसलिए पच्छिम से आ रही धूप का एक बड़ा सा टुकड़ा बरामदे पर पसरा हुआ था। साजिद ने अभी तक कमरे का दरवाजा अंदर से बन्द रखा था। शायद इस तल्ख धूप की वजह से। मेरे मन में अचानक यह बात आयी कि दस्तक देकर उसे जगाया जाय। क्योंकि मेरा विचार था, वह अभी तक सो रहा होगा। कमरे के अंदर से किसी प्रकार की आहट भी नहीं आ रही थी जिससे यह एहसास होता कि वह जाग रहा है। फिर पता नहीं मेरे मन में क्या आया कि मैं किनारे वाली खिड़की के सीसे से जाकर झांकने लगा। लेकिन कमरे में नजर पड़ते ही मुझे चौंकना पड़ गया था। मेरा पूरा अनुमान गलत प्रमाणित हुआ था। मैंने देखा, पलंग पर साजिद बैठा हुआ था और उसके सामने पूरे बिस्तर पर चिट्ठियों का अंबार लगा हुआ था। उसकी पीठ मेरी तरफ थी। वह अत्यंत खोया सा उन पुरानी चिट्ठियों को एक-एक कर पढ़ रहा था।

जैसा कि स्थिति से लगता था, वे सारे के सारे पत्र शायद उसके घरवालों के थे जो उन्होंने दो-तीन साल के अंतराल में लगातार भेजे थे। क्योंकि साजिद कल से ही उन्हीं लोगों के ख्यालों में उलझा हुआ था। लेकिन उन सारे खतों को इतनी व्यस्तता से उसका पढ़ना, मेरी समझ में नहीं आया।

वैसे अभी साजिद जिस मानसिक द्वंद्व से गुजर रहा था, उस अनुभव की कटुता मुझे भी समझ में आ रही थी। लेकिन इस तनाव का उन पुराने पत्रों से क्या संबंध है, और यह संबंध साजिद को आखिर किस परिणाम पर पहुंचायेगा, यह मैं समझ नहीं पा रहा था।

घर वाले जब भी उसे इस माध्यम से छेड़ा करते तो वह एक-दो दिन के लिए थोड़ा-बहुत अवश्य 'अपसेट' हो जाया करता था। लेकिन इस बार उसके सामने उन लोगों ने ऐसा प्रस्ताव रखकर उसे काफी लम्बे समय के लिए असंतुलित कर दिया था। यद्यपि साजिद चाहता तो उन लोगों को एक जबरदस्त नकारात्मक धक्का देकर यह किस्सा ही समाप्त कर सकता था। लेकिन साथ ही उसे यह भी मालूम था कि ऐसा होने के बाद उसके अब्बा का दिल बेतरह टूट जायेगा। और परिणामतः वे उससे हमेशा के लिए मुंह फेर लेंगे। फिर इसके बाद साजिद आड़े वक्तों में बहुत अकेला रह जायेगा—नितांत अकेला !

मैंने देखा, उसने उस पत्र को जिसे वह पढ़ रहा था, पढ़कर रखा और दूसरा तेजी से उठाकर पढ़ने लगा। मेरी उपस्थिति का उसे जरा भी आभास नहीं हुआ था। साथ ही मैं ऐसा करना चाहता भी नहीं था। इसलिए चुपचाप वापस उतर आया और सामने लॉन में टहलने लगा।

शाम के समय की धूप अब सूखी पत्तियों की तरह मुरझा गयी थी। दूर 'हिजला' और 'चूटो' पहाड़ की सुन्दरता मानो मुझे निमंत्रण दे रही थी। लेकिन मेरा मन साजिद के साथ उलझा हुआ था। फिर भी कपड़े बदलकर मैं अकेला ही उधर घूमने निकल गया। और काफी समय तक उन एकांत स्थलों में बिना उद्देश्य के घूमता रहा, जहां रोज साजिद के साथ जाता था। आज अकेलापन मुझे बहुत खल रहा था। यह मैं तल्खी के साथ सारे समय महसूसता रहा।

जब लौटा तो अंधेरा हुए काफी देर हो चुकी थी। 'विला' के ऊपरी वाले बरामदे में ट्यूब लाइट जल रहा था। और साजिद का दरवाजा नीचे से ही अभी तक उसी तरह बंद नजर आ रहा था, जैसा मैं देखकर गया था। शायद उसने अपने को पूरी तरह उसी कमरे में सीमित रखने की शपथ ले ली थी। इसलिए मैं बिना ऊपर गये सीधे अपने कमरे में चला आया।

उस दिन सारी रात सोने में मैं बहुत कठिनाई अनुभव करता रहा। सारा दिन यूं ही अकेले व्यतीत करने से मन पूरे तौर पर ऊब चुका था। थकान मेरे बदन से गायब थी। क्योंकि दिन भर मैं कमरा बंद कर सोता रहा था। और केवल शाम में ही घूमने निकला था।

इन सबों के अलावा एक और बात थी जो मुझे परेशान किए हुए थी। रात भर मुझे ऐसा लगता रहा था, जैसे साजिद सोया नहीं बल्कि जग रहा है। ऐसा अनुमान मैंने सहज ही लगा लिया था, ऐसी बात नहीं थी। बल्कि पूरी रात छत पर अपने कमरे में उसके चलने-फिरने की आवाज मैं सुनता रहा था। कभी ऊपर तिपाई या मेज खिसकाने की आवाज आती तो कभी ट्रंक खिसकाने की। कई बार ऐसा भी लगा जैसे, दीवार पर वह लगातार किसी चीज को ठोक रहा है। क्योंकि दीवार पर हथौड़ा मारने की आवाज ठक्-ठक् रह-रहकर उभरती।

और तब लगता जैसे, उस निस्तब्धता में कहीं बार-बार विस्फोट हो रहा हो।

सुबह जब हाथ-मुंह धोकर मैंने अपने में ताजगी महसूस की तो ऊपर जाने लगा। आज मैं साजिद से बहुत सारे सवाल पूछना चाहता था। ऐसा मुझे लग रहा था। सीढ़ियों पर चढ़ते समय आज पहली बार जाने क्यों मेरे कदम ठिठक गये। थोड़ी झिझक भी मैंने महसूस की। मन में एक वाक्य गूंज रहा था—तुम्हें साजिद के निजी मामलों में दखल देने का क्या हक है ! और मुझे लगा जैसे मैं इसके सामने बिल्कुल निरुत्तर हो चुका हूं। फिर भी जी कड़ा करके मैंने इस विचार की अवहेलना कर दी और तेजी से सीढ़ियां चढ़ता ऊपर पहुंच गया। साजिद का कमरा आशा के विपरीत खुला हुआ था। मैंने दरवाजे में घुसने से पहले चुपके से खिड़की के सीसे से ही कमरे में झांका। अन्दर साजिद न था। वह मुझे कहीं नहीं दिख रहा था। शायद वह दरवाजा उढ़काकर कहीं गया था। जो कि बाद में हवा के झोंकों से खुल गया था। मैं खिड़की के पास से हटा और अंदर चला गया।

अन्दर जो कुछ मैंने देखा, वह बिल्कुल अप्रत्याशित था। इससे पहले मैंने इस तरह के परिणाम के विषय में कभी सोचा भी नहीं था। शमीना की दीवार में जड़ी तस्वीर अपनी जगह से उखाड़ ली गयी थी। कमरे में उसका कहीं अता पता नहीं था। सारे फर्श पर अधजली सिगरेटों एवं बीड़ियों की भरमार थी। शायद सिगरेट खत्म हो जाने के बाद परेशानी में वह रात भर बीड़ियां भी पीता रहा था, जो अवश्य वह नीचे जाकर नौकर से मांग लाया होगा। मैंने कमरे में और भी इधर-उधर नजर दौड़ाई तो एक कोने में जले हुए कागजों का ढेर दिखायी दिया। मेरी उत्सुकता बढ़ गयी थी। मैंने जाकर राख के ढेर को अंगुली से कुरेदा तो एक आधा जला हुआ पत्र, मेरे हाथों में आ गया। साजिद का कोई भी खत मैंने बिना उसकी अनुमति के कभी नहीं पढ़ा था। हालांकि ऐसे मौके कई बार मेरे सामने आये। लेकिन इस हालत में मैं इसे पढ़ने का लोभ संवरण नहीं कर सका और अधजले खत को पढ़ने लगा—"आपकी तकलीफों के बारे में सोचती हूं तो मन टूटने लगता है। मैं आपके किसी काम नहीं आ सकती हूं—यह दुःख मुझे किस तरह सालता है, यह मैं नहीं बता सकती। लेकिन जिस मां की मोहब्बत और उसका साया बचपन में न पा सकी थी, वह मुझे कम-से-कम यहां मिल तो गयी है। उनकी देखभाल, सेवा-टहल की जो जिम्मेवारी आपके ऊपर है उसे मैं निबटाकर आपकी थोड़ी बहुत जिम्मेवारी तो जरूर कम कर डालती हूं। बस यही सुकून यहां मेरे जीने का सहारा है। मैं यहां ठीक हूं। पम्मी बहुत याद करती है आपको। आप अपनी सेहत पर ध्यान देंगे। यहां हम लोगों के ऊपर तो अम्मी-अब्बा का प्यार भरा हाथ है ही। इसलिए चिंता नहीं करेंगे।"

—आपकी, शमीना।

पढ़ते ही मेरे दिमाग में कल दोपहर के वे सारे पत्र एक झटके के साथ गुजर गये, जिन्हें सामने रखकर साजिद बड़ी खामोशी से पढ़ रहा था। मैंने समझा था, वे सारे के सारे खत उसके घरवालों के थे।

करीब आधे घंटे बाद साजिद लौटा। आते ही मेरे कमरे में वह पहुंचा। उसपर जैसे तूफानी दौरा पड़ा हुआ था। दूर कहीं से आने के कारण हांफ भी रहा था। थोड़ी देर खड़े खड़े हांफने के बाद सोफे पर बैठता हुआ बोला, "यार, आज सारा बोझ मैंने अपने सर पर से उतार दिया।"

"वह कैसे ?" मैं चौंककर उसकी ओर देखने लगा।

"तुम्हें तो मालूम है, पिछले साल शमीना के फोटोग्राफ वाला अलबम पता नहीं कहां खो गया था। अब बस याद के रूप में वह बड़ी तस्वीर बची थी। आज उसे भी मैं सुबह-सुबह मयूराक्षी में फेंक आया हूं। उसके तमाम खत मैंने जला दिये हैं, ताकि उसकी याद दिलाने वाली हर चीज से मैं दूर भाग जाऊं। और कल ही घर वालों को मैंने एक खत भी डाल दिया है कि मैं शादी के लिए तैयार हूं, बोलो कब आऊं ?"

मैंने कोई उत्तर नहीं दिया। वह भी चुपचाप बैठा हुआ कभी कमरे की बेजान चीजों पर और कभी बाहर शून्य में अपनी नजर टिकाने की कोशिश में लगा हुआ था।

पुराना पुलिस लाइन क्वार्टर
आरा, (बिहार) ८०२३०१

इस बार बच्चा विषयक कुछ कविताएं :

चयन : बलदेव वंशी

बच्चा एक चुनौती है !

प्रत्येक बच्चा बड़ों की दुनिया के लिए मौन चुनौती है, क्योंकि बच्चे की भी एक स्वतंत्र-स्वायत्त दुनिया है। इसे बड़े न पहचानने की कोशिश करें और उसे स्वायत्तता न दें तो दूसरी बात है। भले ही बड़े वेखबरी में ही ऐसा करते हों, परंतु वच्चे की दुनिया के लिए यह है बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण। बड़ों द्वारा खड़ी की गयी वर्जनाएं बच्चे के सरल-संवेदनशील मन की संभावनाओं की जड़ों को ही विकलांग कर देती हैं। बड़े द्वारा खड़ी की गयी वर्जनाओं-बाधाओं को बच्चा जोखिम उठाकर भी हटाना-नक्कारना चाहता है। असमर्थ होने की स्थिति में पूरे मन से घृणा भी करता है।

बच्चा, क्योंकि समाज की मूल इकाई है, इस कारण उसकी दशा एवं स्थिति न केवल हमारी वर्तमान दशा-स्थिति को प्रमाणित करती है, प्रत्युत भावी स्वरूप-स्थिति की भी कसौटी है। वर्तमान की भावी परिणतियों तक पहुंचने के लिए हम बच्चे के अहसासों को आईना बना सकते हैं। वर्तमान परिवेश में व्याप्त असमानता, अन्याय, अभाव, अपराध आदि से बच्चे के भीतर क्या कुछ टूट-जुड़ रहा है; फिर इसका कितना और कैसा प्रभाव वच्चे के मन पर पड़ता है; इसकी वास्तविक कल्पना ही दहला देने वाली है।

बच्चा विषयक इन कविताओं के सम्बन्ध में एक अन्य बात यह कि समकालीन कविता के आरोपण एवं मुहावरे के बनावटीपन का इन और इस विषय की अन्य कविताओं में अत्यल्प प्रभाव दीखता है।

वच्चे के हिन्दी कविता से गायब होने और लौटने की संभावनाओं और संशयों को, उसकी दुनिया के साथ, हम 'संचेतना' के माध्यम से आपको सौंपते हैं।

—बलदेव वंशी

शीशे की कनी / इंदु जैन

गुलाब-सी सुबह में
कांटे-सा कसकता मन
चांद के दर्पण में
चोट की तरेड़
मेरी बिटिया के बादल-से पैर में चुभी
शीशे की कनी

—इंद्रप्रस्थ कालेज, दिल्ली-७

बचपन की यात्राएं / हरदयाल

सोते हुए बच्चे की दूधिया हंसी
युवती मां का उमड़ता वक्ष
मुस्कराते होंठ
ललाते गाल
युवक पिता के हाथों की सरसराहट
तिरछी आंखों की छेड़
चुम्बन—आलिंगन···
सब बचपन की यात्राएं हैं

—हिन्दी विभाग, श्यामलाल कालेज, दिल्ली-११००३२

मिणिया की बेटी / अरविंद ओझा

मिणिया की बेटी है मघली
मघली लड़की है
क्योंकि लड़की के पांव
सीसे के हैं

और हाथ मुड़े हुए
क्योंकि
मघली कैद है—
शर्मनाक विकृत चमड़ी से
इसलिए तुम सोचते हो
पर कबूतरी रंग के आसमान की सांस
उसके बालों को
हिलोरती है
और रेगिस्तान का फैलाव
उसका पथ है
जहां सुनती हैं
सफेद भोली भेड़ें—उसका गीत

तुम देखते हो—
मघली की बेकार टांगें
और असहाय हाथ

पर यह कुण्ठित नहीं कर सकते
मघली के मन के पैरों को
मघली के मन की पकड़ को—

यह पहुंचती है—
विकलांगता के पार
और अपने साथ हवा को ब्याहती है
जो गुजरती है
ठीक उसकी बगल से

नवल सागर कुआं, बीकानेर

बच्चों ने देखा / बनाफर चन्द्र

मेरे सिर के
सफेद बाल निकालते हुए बच्चे
हो जाते हैं बूढ़े
और एक पूरी दुनिया
घूम जाती है उनकी आंखों में
बचपन से बुढ़ापे तक
बच्चे भूल जाते हैं
कि वे कभी जवान होंगे
क्योंकि बच्चे ने देखा है
मेरे बालों में सिर्फ बुढ़ापा
पतंगों और टिड्डों के पीछे
दौड़ना छोड़ दिया है बच्चों ने
तारे तोड़ने
और आकाश छूने जैसी बातें
अब नहीं करते
अब वे बातें करते हैं—
पकी, सफेद, झुर्रीदार, हांफती हुई···

२४६ एम-२ सी, बड़खेरा, भोपाल

बच्चा परेशान है / नीना मल्होत्रा

मां ! तुम अच्छी नहीं लगती मुझे
सूखी-पतली
गंदी लगती हो साथ चलती
औरों की मां
होती है मोटी

तुम क्यों नहीं होती मोटी, मां
मां ! तुम क्यों नहीं खाती भर पेट
बस इत्ते-से चावल
दाल नहीं डालोगी क्या ?
बाबा ! तुम भर दो न
मां की थाली चावल से !
दीदी ! तुम कर दो न काम
मां थक जायेगी !
बच्चा हैरान है—
उसकी बात का उत्तर
कोई भी नहीं देता
और बच्चे खेल में मस्त हैं
यह बच्चा सोच में डूबा,
खाली थाली को लेकर परेशान है।

IV डी-५ लाजपत नगर, नई दिल्ली-११००२४

तालियों की आवाज / सतीश वशिष्ठ

उस रोज
जब मैं सांझ ढले
घर पहुंचा
तो मेरी बच्ची ने
कुर्ते की जेबें झकझोर कर
मुझसे प्रश्न किया
कि
बापू तुम खाली हाथ कैसे ?
तुमने तो
आतिशबाजी लाने का वायदा किया था
तब मैंने उसे घूरना चाहा

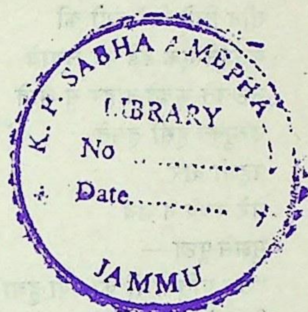
परंतु
उसकी सवालिया आंखों को लगातार
देख पाना मेरे लिए
नामुमकिन था
और तब मैं चुपचाप
जमीन को देखने लगा था
और मेरी बच्ची ने
जमीन पर लेटकर बिसूरना शुरू कर दिया था
उसकी फटी साफ फ़ाक पर
जगह-जगह मिट्टी के चकते उभर आये थे
तब मैंने कुछ नहीं कहा था
इतने में
मेरा बच्चा आया था
उसने कहा था बापू चिंता मत करो
हम तालियों से पटाखों की आवाज
निकाल लेंगे
यह कहकर उसने दोनों हथेलियों को
जोर से मिलाया था
सचमुच पटाखों की सी आवाज थी
लेकिन मैं तब चीख उठा था
और कहा था
बेटे ऐसा मत करना
तुम नहीं जानते कुछ लोग तालियों का
गलत इस्तेमाल करते हैं
तुम कभी ऐसा मत करना

९९८८/बी, जैन भवन, नई रोहतक रोड, नई दिल्ली-११०००५

घिरे हुए बच्चे / मधु शर्मा

मैं नहीं कहती
कि बच्चे, बच्चे ही रहें

और सदा तुतलाते हुए
टूटे शब्दों में अपने को कहें
पर कच्ची उम्र के मासूम मौसमों में
छोटे-छोटे भय और परेशानियों में
उनका यकायक बड़ा हो जाना
पतझड़ के नंगे पेड़ों के लिए
शोक-मग्न चेहरों के साथ
व्यस्कों की जमात में
भीड़ बनते हुए खो जाना
मुझे डरा जाता है भीतर ही भीतर
शहर की सभ्यता ने उन्हें
भय, अनिश्चय
अविश्वास और घृणा दी है
घिरे हुए बच्चे, आज
हड़बड़ाहट में
सुरक्षित जगहें तलाशते हैं
उनकी बेचैनियों को
लुका-छिपी के खेलों की तरह देखते
हम समझते हैं
कि बच्चे होशियार हो रहे हैं !
हमारे लकदक झूठों से परिचित
बच्चे भयातुर झूठमूठ में सो रहे हैं
हमारे जिस्मानी संवादों को
अपनी भाषा में दोहराते हैं
और हम कहते हैं
बच्चे समझदार हो रहे हैं !



WZ-१०८ खामपुर, वेस्ट पटेलनगर, नयी दिल्ली-११०००८

फूल-मालाएं-बच्चे / हरिप्रकाश त्यागी

तीन घिसे पिटे रंगों की
कतरनें एक डंडे पर लगाये
उछलते कूदते बाहर से आते
उन्मुक्त हंसी हंसते
पहली बार
मेरे बच्चे ने जब
मुझसे पूछा—
"उन प्रतिमाओं का क्या हुआ ?
जिनको आपने फूल-मालाएं अर्पित कीं"
तब पहली बार,
हां, पहली बार
अहिंसा के नाम पर
लाठी और गोली पर टिके
सरकारी इतिहास पर
सन्देह हुआ था
महसूस हुआ
कि उन तमाम फूल मालाओं का सौन्दर्य
मैंने खुद मूर्तियों को भेंटकर
नष्ट किया है।
फूलों का सहारा लेकर
खंडित ऐतिहासिक पुरुषों ने
लोक मंदिर में घुसकर
खुद को स्थापित व
इतिहास को भ्रमित किया है।

डी-६३६ डी० आई० जेड एरिया, मंदिर मार्ग, नयी दिल्ली

ऋतुएं भविष्य की / राजकुमार सैनी

बांधकर दोनों हाथ
पिस्तौल की तरह
मेरी ओर तानते हैं
कहते हैं—"ठाह ! !"

फैला कर हथेलियां
ढाल की तरह
कहता हूं—"आह ! !"

कितने अच्छे लगते हैं
हंसते, खेलते, किलकारियां भरते।
इनकी आंखों में खेल नहीं धूप-छांह
ऋतुएं भविष्य की।

बी- ३/४०६, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-६३

सीधी कार्रवाई / रमेश सोनी

···बच्चा। बहुत जिद्दी है
हाथी। घोड़ा। ऊंट। प्यादे
वज़ीर। बादशाह,
किसी के बीच
कोई फ़र्क नहीं करता
किसी से नहीं डरता
बादशाह को घेरने / क़ैद करने के लिए
नहीं रचता जाल / नहीं चलता चाल
न बोलता न कुछ कहता है
जिसे चाहता : उठाकर फेंक देता है
क्या बच्चा
सीधी कार्रवाई में करता है विश्वास ?

कविता कुटीर, रंग बावड़ी, उज्जैन

सुर्ख़ होने की इंतज़ारी में / रमेश मेहता

वह गोपियों के प्यार का नहीं
घर वालों के 'दुलार' और
मास्टर जी की 'मार' का मारा था
इसलिए शहर भाग आया
शहर ! उसके लिए एक सपना था
शहर ! हर अजनबी सांस के लिए
बिल्कुल अपना था
शहर ! महज़ आकर्षण है—
खोने और पाने की सीमा के पार
एक टूटा दर्पण है ।
अब
उसके हाथ
मुरली के छेद नहीं
तोंद सहलाते थे
पांव
अंधी गलियों में भटक-भटक जाते थे
आवाज़ सिर्फ पैसे गिनती थी
और कान
इधर की सुनकर उधर को उड़ाते थे ।
वह
अंधा, गूंगा या बहरा नहीं था
बात सिर्फ इतनी है
कि अपने अधिकारों पर
कभी भी
उसका कोई पहरा नहीं था
वह, अब बबूल-शहर की कोई
बे-हया, नंगी शाख बनता जा रहा था
या महज़
भट्टी से बाहर छिटका एक कोयला था
जो सुर्ख़ होने की इंतज़ारी में
राख बनता जा रहा था ।

द्वारा-शीराज़ा (हिन्दी), जम्मू

नहीं कह सकता / अनवर शमीम

बच्चा खिलखिलाता है।
घोड़े की हिनहिनाहट हवा के बदन पर
कोड़े की तरह बरसती है।
घोड़े की हिनहिनाहट
अब, ऊंची ईमारतों की
खिड़कियों को नहीं छुपाती
और
बच्चे की खिलखिलाहट
मोम के आखरी सिरे की तरह
भभक कर बुझ जाती है।

घोड़ा
बच्चे के होंठों की हंसी के लिए
हर दिन सलामती की दुआएं मांगता है
और, हांफ-हांफ जाता है।
हर सुबह
घोड़े की मौत के लिए
दुआएं मांगने वाले मायूस
होते हैं।

बच्चा किस दिन ठठाकर
हंस पड़ेगा।

घोड़े की हिनहिनाहट से
ऊंची ईमारतों की शीशेदार
खिड़कियां कब झड़ जाएंगी
और, किस पल घोड़े की मौत
के लिए
दुआएं मांगने वाले पत्थरा जाएंगे
यह मैं नहीं कह सकता।

डायमंड क्रासिंग, ब्लाक नं० १८२/जी, धनबाद- (बिहार) ८२६००१

सामना / मणि मधुकर

मां की अंगुली थामे हुए
भाई के साथ-साथ
पिता के बिल्कुल पीछे
चल रहा था वह

अकेला और अनमना

एक छोटी-सी उम्र
और इतनी कड़ी धूप से सामना

हवा गुम
पेड़ गायब
रास्ता लम्बा
उसी की तरह चारों ओर से
कटा हुआ

शायद कहीं कोई पंखेरू
सन्नाटे के
सख्त दबाव के बावजूद
चोंच खोले और उसे
अकेला न रहने दे।

७/२, राजेन्द्र नगर, नयी दिल्ली

बारह साल का बच्चा / हरिशंकर अग्रवाल

बारह साल का बच्चा
काम करने लायक हो जाता है
चौथी किलास उसे रोटी नहीं दे सकती
इसलिए बाप उसे
कप-बसी धोने के काम में लगा देता है

बासी नाश्ता और एक रुपया रोज पर
जब वह अपनी छीजती हुई अंगुलियों को
भट्टी पर सेंकता है
सेठ की आवाज भभकती हुई
उसकी मां पर चढ़ जाती है
और उसका गुस्सा चाय की तरह उबलकर
अंगार पर गिरकर भाप हो जाता है

बारह साल का बच्चा
जिंदगी के पहले मोर्चे पर खड़ा हुआ
दूसरों की सुरक्षा के लिए
मकान खड़ा कर रहा है
काम पर लगा रहे, इसलिए
मालिक की खबर
मां तक पहुंचा रहा है
जब तक उसे समझ आयेगी
वह नींव में दफन हो चुका होगा

बारह साल का बच्चा
एक बड़ी बहस के लिए
राजनीति की चपेट में आ गया
पक्षी की तरह उड़ता हुआ वह
गुलेल खा गया
सरकार पांच सौ रुपये लेकर
उसकी शिनाख्त कर रही है

बारह साल का बच्चा
आंख मारने लगा है
वह बाप बनना चाहता है
गाना-गाते चिटकोरे बजाते
उसने हिन्दुस्तान घूम लिया है।
फुरसत में वह
गोली चिटकाता है
बिजली के बल्ब तोड़ता है

उसका निशाना जवान हो रहा है
मैं सोचता हूं
अगर इसे तमंचा मिल जाये
तो—सबसे पहले यह
किसे मारेगा ?

सम्पादक—आकंठ, आजाद वार्ड, पिपरिया (म० प्र०)

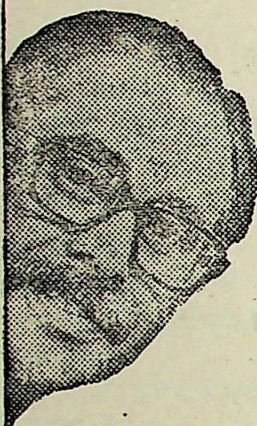
बच्चे और भेड़िये / बलदेव वंशी

पड़ोस में एक व्यक्ति
एक मेमना लाया
चंचल, चुहल-सा, चटकीले रंग का···
एक बच्चा उसके पास गया
खेलने लगा
दूसरा बच्चा उसके पास गया
पुचकारने लगा
तीसरा बच्चा उसके पास गया
रोटी देने लगा
चौथा बच्चा उसके पास गया
कान उमेठने लगा
वे चारों बच्चे दिन भर खेले
उस मेमने के साथ
यह साथी उन्हें अपने-सा लगा—
चंचल, चुहल-सा, चटकीले रंग का···
बच्चों के स्वप्न में उतर गया खेलता हुआ मेमना
वे नींद में उड़ने लगे रंगीन पंखों पर
वे नींद में चहकने लगे हरियल पेड़ों पर
रातों से भी लम्बी हो गयीं उनकी नींदें···
कुछ रोज बाद मेमने को मार कर पड़ोसी खा गया
बच्चे हैरान हैं : मेमना कहां गया ?

मां ने बताया : मेमना को भेड़िया ले गया
मेमने को भेड़िया ले जाता है ?
हां, मेमने को भेड़िया ले जाता है !
मेमना को भेड़िया खा जाता है ?
हां, मेमने को भेड़िया खा जाता है !
मेमने रोया होगा पीड़ा से !
हां, मेमना रोया था पीड़ा से !
मेमने को बचाया नहीं किसी ने भेड़िये से ?
हां, मेमने को नहीं बचाया किसी ने भेड़िये से !
बच्चों ने बहुत डरावने दृश्य देख लिये हैं
बच्चों ने बहुत सी डरावनी कहानियां सुन ली हैं
बच्चों ने बहुत सी डरावनी सच्चाइयां जान ली हैं
अब ! बच्चों के स्वप्न में भेड़िये उतर गये हैं
बच्चे डरते हुए भाग रहे हैं घरों से
बच्चे डरते हुए भाग रहे हैं स्कूलों से
बच्चे डरावने दृश्यों, कहानियों, सच्चाइयों से
भाग रहे हैं लगातार···
अब ! बच्चों की नींदें छोटी
और रातें लम्बी हो गयी हैं
बच्चे स्वप्न में पिटकर परेशान हो रहे हैं
बच्चे स्वप्न में घायल और लहूलुहान हो रहे हैं
बच्चे इन स्वप्नों में
यों बड़े हो रहे हैं
बच्चों की नींद में
भेड़िये भी बड़े हो रहे हैं
पहले कभी बच्चों से डर भागते थे
आज बच्चे डर से भाग रहे हैं
पहले कभी बच्चे मेमने से खेलते थे
आज भेड़िये बच्चों से खेल रहे हैं !

ए-३/२६३, पश्चिम विहार, नयी दिल्ली-११००६३

देखिए पी एस बी हमारी मदद करने में कैसे सबसे आगे रहता है।



"...मेरे लिए पेंशन की व्यवस्था की।"

मासिक किस्तों या सावधि जमा के जरिए जमा और पेंशन योजना।

"...मुझे बताया कि 5,000 रु० की रकम कैसे दूनी हो सकती है —और आड़े वक्त में मेरे बच्चों का सहारा हो सकती है।"

—दीर्घावधि बचत योजनाएं आपकी जरूरतों को ध्यान में रख कर बनाई गई हैं। अब आप चाहे 1,000 रु० से शुरू करें या 50,000 रु० से। चुनना आपको है।



ASP/PSB/202-81A

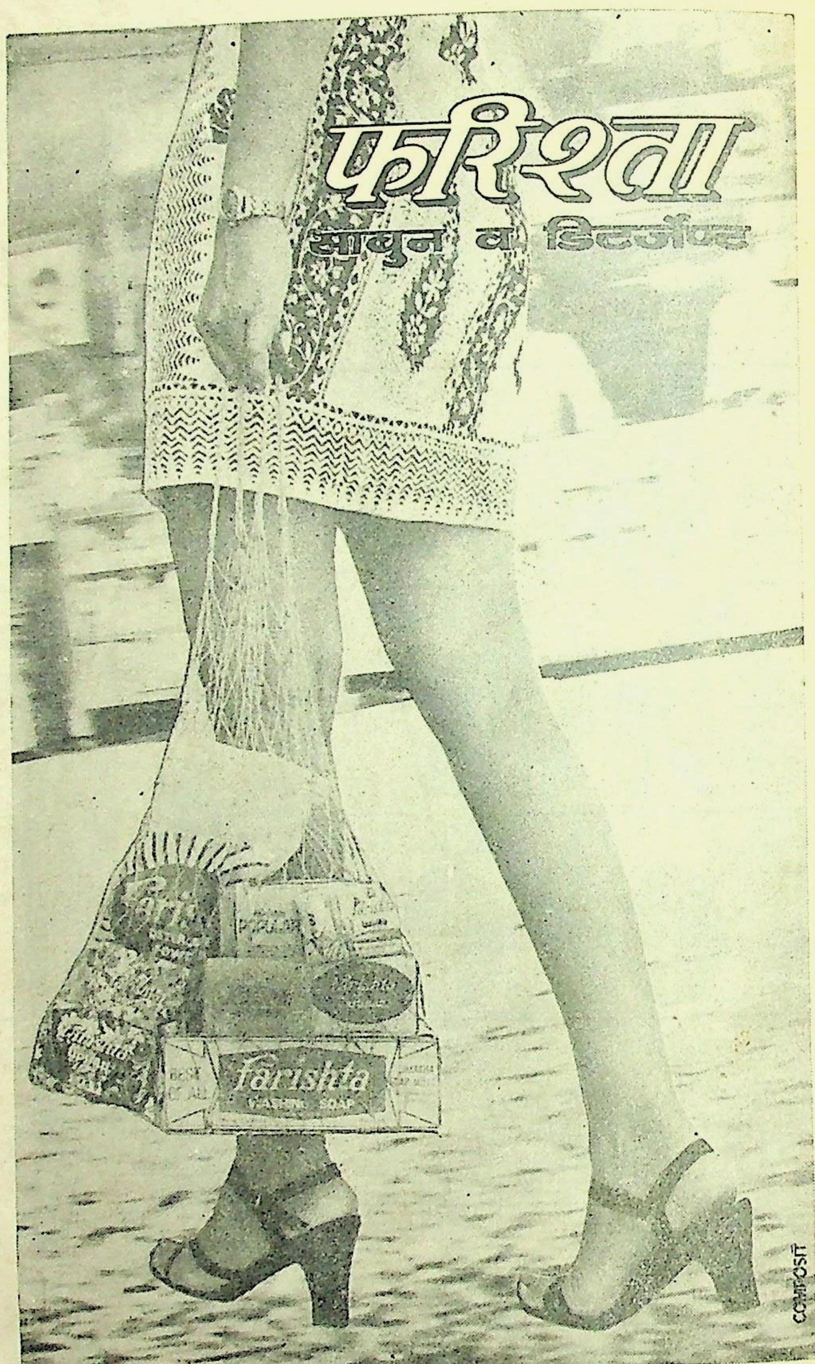


पी एस बी — सम्पूर्णबैंक सेवा का प्रतीक

पंजाब एण्ड सिन्ध बैंक

(भारत सरकार का एक उद्यम)

SANCHETNA : March 1982 Rs. 3.00 R. No. 14319/67



Edited & Published by Dr. Maheep Singh, for Mrs. S.K. Singh from H. 108, Shivaji Park, New Delhi-110026, Printed at Sanjay Printers, Mansarover Park, Delhi-110032.